पुजारी

लेखक :

उमाकान्त मिश्र

प्रकाशक :
साधना-मन्दिर-प्रकाशन
[illegible]

प्रथम संस्करण :
मूल्य : ४.००

मुद्रक :—
शांति प्रिंटिंग वर्क्स,
जी० टी० रोड सलकिया, हवड़ा ।

कुसुमलता की दृष्टि कानन पर पड़ी। वह मंदिर आ रही थी। सूर्य अस्ताचल की ओर तेजी से भाग रहा था। कुसुमलता उठी और मंदिर में झाड़ू लगाने लगी।

त्रिवेणी ने मिट्ठू को पास बुलाते हुए कहा—देखो मिट्ठू दादा, अब तुम अच्छी तरह काम करने से मानते नहीं, और न तो कभी इस बारे में तुम मुझसे ही कहते। न कोगे भी कितना? तुम्हारी उम्र भी तो लगभग बाबूजी के ही बराबर होगी। वे चले गये, लेकिन तुम बुढ़ापे से जर्जर होकर भी हमारा अधिक से अधिक काम कर देते हो।" और उसने गंभीर होकर एक हाय भरी—देखो तो, दम्मा से बेदम होकर भी तुम नवयुवकों जैसे अकड़कर काम में जुटे पड़े हो। तुम सोचते हो दादा, कि यदि तुम छोड़ दोगे तो ये सारे काम चौपट हो जायेंगे। तुम हमें तो कुछ करने ही नहीं देना चाहते!—और वह एक प्रश्न भरी दृष्टि से मिट्ठू को निहारने लगा।

मिट्ठू का हृदय गद्‌गद हो उठा था! इस आत्मीय झिड़कन से वह स्नेह-प्लावित हो उठा। मन में बोला—आह, इस अबोध पुजारी को यह कैसे समझाऊं कि तुम्हारा जीवन मेरे जीवन से कहीं अधिक मूल्यवान है! जिस व्यक्ति के एक-एक क्षण का मोल लाख-लाख है—उसीके सिर पर घरेलू झंझटों का बोझ लादकर उसके अमूल्य जीवन का दुरुपयोग क्यों किया जाय भला?

भूमिका

कथा-साहित्य के साथ मानव-जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चाहे वह गद्य के रूप में हो या पद्य के रूप में। यही कारण है कि संसार के साहित्यों में कथाओं की प्रधानता है। खासकर आज के युग में तो साहित्य का प्रमुख अङ्ग कथा ही है---भले ही वह छोटी-छोटी कहानी के रूप में हो अथवा बड़े उपन्यास के रूप में। किसी कथा को पढ़ने के उपरान्त पाठक का हृदय उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यह प्रभाव कथानक के ऊपर निर्भर करता है प्रारम्भ में भारतीय साहित्य के अन्तर्गत जो कथाएँ लिखी गयीं, उनका उद्देश्य उच्च रहा---उनमें आदर्श की प्रधानता रही। उनके लेखकों का दृष्टिकोण विश्व में मानवता का प्रसार कर एक ऐसा आदर्श उपस्थित करना था जिससे सर्वत्र 'बन्धुत्व' का भाव वर्द्धित होता रहे। लेकिन उन्होंने अपने को यथार्थ से अधिक दूर नहीं रखा।

युग के अनुसार कथा के रूप और उद्देश्य में भी परिवर्तन हुए। एक युग ऐसा आया---जब साहित्य वास्तविक जन जीवन से दूर हटकर एक ऐसे संकुचित क्षेत्र में चला गया जहाँ उसका उद्देश्य केवल विलासिता का स्रोत प्रवाहित करना भर रह गया। साहित्य-निर्माता अपने उत्तरदायित्व को भूल गये---हालाँकि उस युग में भी उन्होंने जो कुछ दिया, कला की दृष्टि से उसका मूल्य कुछ कम नहीं। पर, आज के आलोचक प्रायः इस विषय पर एकमत हैं कि उस युग में जनता के

साथ साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रह गया; जो कुछ लिखा गया उसका दृष्टिकोण एकांगी था।

आज युग बदल गया है और इस परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में भी कुछ नवीन हलचल सी आ गयी है। आज आनन्दवादी युग के साहित्य से हमारा काम नहीं चल सकता। युग की मांग के अनुसार साहित्य का निर्माण होता आया है और तभी उसका समाज के साथ गंभीरतम सम्बन्ध निबह सका है। आज का कथा-साहित्य जन-जीवन का सच्चा प्रतीक है। जब तक जनता के साथ उसका यह सम्बन्ध बना रहेगा, वह निरन्तर अभिवृद्धि के पथ पर अग्रसर होता जायगा। आज की कथाएँ हमारे जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती हैं। जिन कथाओं में यह विशेषता नहीं उनका प्रभाव क्षणिक है। यह सच है कि कला का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है, किन्तु उसके साथ-साथ जिसमें जन-हित की भावना सन्निहित रहती है, वही वास्तव में सच्ची कला है और मानव के ऊपर उसका स्थायी प्रभाव पड़ता है। आज कला हमारे जीवन का एक अभिन्न अङ्ग है—वह हमारी यथार्थता का वास्तविक चित्रण करती है। आज की वे कहानियाँ या उपन्यास जो हमारे वास्तविक जीवन से संपर्क रखते हैं— वे अधिक काल तक जीवित रह सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

चित्रण कहीं-कहीं बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। उपन्यास का कथानक गाँव से सम्बद्ध है और लेखक गाँव को आदर्श रूप में देखना चाहता है।

इसके सिवा पुस्तक में एक वेश्या का चरित्र भी आया है और उसका नाम है कुसुमलता। वेश्यायें समाज में सदा से घृण्य रही हैं। भारतीय साहित्य में उनका वर्णन प्रायः इसी रूप में आया है। किन्तु, युग की विचारधारा के अनुसार लोग अब यह महसूस करने लगे हैं कि वेश्यायें भी हृदयहीन नहीं; और यदि समाज अपने दृष्टिकोण को थोड़ा उदार बनाये तो वे भी समाज का एक प्रमुख अंग बनकर उसे उन्नत करने में पूर्ण सहयोग प्रदान कर सकती हैं। इसी आदर्श को सामने रखकर कुसुम का चरित्र चित्रित किया गया है। संभवतः अनुदार दृष्टि वाले इसे पसन्द न करेंगे किन्तु युग की मांग के अनुसार विचारों में परिवर्तन की आवश्यकता है। कुसुम के भावों का विश्लेषण लेखक ने बहुत ही मनोवैज्ञानिक तौर पर किया है।

उपन्यास को पढ़ते समय कहीं–कहीं हम बिल्कुल गाँव में पहुँच जाते हैं और वहाँ हमें वे ही लोग मिलते हैं जिनके बीच हमारा ग्राम्य-जीवन व्यतीत होता है। पुजारी का जीवन अत्यन्त आदर्श है। और उसका अन्त भी बड़ा ही करुण और मार्मिक हुआ है। समाज की विविध सेवाओं के उपरान्त वह एक अबला की सुहाग-रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति देता है।

आशा है, प्रस्तुत उपन्यास पाठकों का उचित मनोरंजन करते हुए उनके हृदय पर एक अमिट छाप छोड़ सकेगा।

—सेवाधर

अपनी हार पर क्रुद्ध होकर बोला—"सिर्फ तुम बातें ही बनाना जानती हो और कुछ नहीं। कोई खाये चाहे भूखा रहे—तुम्हें क्या परवाह ?"—और वह जल्दी-जल्दी कमीज की बटन लगाते हुए भूखा ही स्कूल चला गया। कला देखती ही रह गई। उसे त्रिवेणी का इस भाँति भूखा ही चला जाना अच्छा न लगा। वह दुखी हो उठी।

जब मुख्तार साहब आँगन आये तो वह बोली—"आज त्रिवेणी नाराज होकर भूखे ही स्कूल चले गये। मैं कितना भी कहती रही लेकिन वह रुके नहीं। पानी नहीं था इसलिए रसोई में आज थोड़ी देर हो गई।"

"खैर! कोई बात नहीं, 'टीफीन' में वहीं कुछ खा लेगा। उसके पास समय नहीं था इसीलिये नहीं रुका।"

"लेकिन उनके पास तो पैसे भी नहीं हैं। जेब-खर्च के लिये आपने जो दो रुपये दिये थे—सो तो उन्हें देने के लिये मैं भूल ही गई। आज गुस्से में हैं—कहीं इम्तहान खराब हो गया तो फिर मुझी पर नाराज होंगे।"

मुख्तार साहब को कला की बातों पर हँसी आ गई। वह बोले—"त्रिवेणी वैसा लड़का नहीं है कि उसका इम्तहान खराब हो जाय। खैर, कोई बात नहीं, मेरे रास्ते में ही उसका स्कूल पड़ता है—मैं उसे पैसे देता जाऊँगा। तुम निश्चिन्त रहो।"

पिता की बातों से कला को कुछ शान्ति मिली। वह अपने काम-काज में लग गई।

इन दिनों कला की माँ खेत पर गई हुई थी। शहर से

मुख्तार साहब ने बड़ी उत्सुकता से उसे पूछा—आज का पर्चा कैसा हुआ त्रिवेणी ?

त्रिवेणी ने मुस्कुरा कर उत्तर दिया—सवाल तो सारे ठीक हैं। नहीं सौ तो नब्बे-पंचानबे तो आ ही जायेंगे।

प्रसन्न होकर उसकी पीठ ठोकते हुए मुख्तार साहब बोले- "शाबास पट्ठे !"—

और अपने साथ ले जाकर उसे भी भर पेट मिठाई खिलाई।

फिर मुख्तार साहब दो-ढाई सेर मिठाई की एक डलिया उसके हाथों में थमाते हुए बोले—"यह लेकर तुम घर चले जाओ, मैं जरा आज मोहनपुर जाता हूँ—कुछ जरूरी काम है। और हाँ, देखो—आज तुम आँगन में ही सो रहना, —कला अकेली है। मैं कल दस बजे तक आ जाऊँगा; और वह मोहनपुर की तरफ जानेवाली एक बस में घुस गये। त्रिवेणी घर पहुँचा तो देखा कि कला हलुवा बना रही थी। उसे मिठाई थमाते हुए वह बोला—"बाबूजी आज खेत पर चले गये हैं, कल आ जायेंगे" यह कहकर वह दरवाजे पर चला गया।

मिठाई की डलिया देखकर ही कला समझ गई कि बाबूजी से इनकी मुलाकात हो गई—जरूर आज इनकी भी भर पेट मिठाई उड़ी होगी ! सोचा था जब भूख से चिढ़े हुए आँगन में आयेंगे तो हलुवे का जलपान पाकर प्रसन्न हो उठेंगे—किन्तु देखती हूँ कि आज का सारा हलवा वैसे का वैसा ही पड़ा रह जायगा।

फिर कुछ देर तक तो वह इस आसरे में रही कि त्रिवेणो पुनः लौटकर आँगन में आयेगा और आकर .रोज की भाँति उससे जलपान माँगेगा। किन्तु आध घन्टे से ऊपर हो गया फिर भी वह लौटकर आँगन नहीं आया। अन्त में डरी-सहमी जब कला स्वयं ही उसे बुलाने के लिये दरवाजे पर गई तो खिड़की से झाँककर देखा उसने—त्रिवेणी बाएँ हाथ की एक अँगुली को जोर से दबाये गौर से देख रहा था। दरवाजे पर और कोई नहीं था। कला निःसंकोच कमरे में घुस गई। कमरे में घुसते ही त्रिवेणी की अँगुली से खून बहते देखकर वह चौंक उठी। झट से बोली वह—"अरे, यह क्या हो गया आपको ?"

किन्तु त्रिवेणी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह आज सवेरे से ही कला पर नाराज था। फिर समीप ही कमीज, बटन और सूई-धागा देखकर उसने सहज ही अनुमान लगा लिया कि कमीज में बटन लगाते समय इनकी अँगुली में सूई भिस गई।

सूई कुछ गहरी चुभी थी। अतः खून कुछ अधिक बह रहा था। कला जल्दी से आँगन गई और तकली काटनेवाली कटोरी से एक चुटकी चूना उठा लाई और बहते हुए खूनपर डालकर जोरों से अँगुली दबा रक्खी।

कला के स्निग्ध स्नेह और ममता से त्रिवेणी के हृदय का सारा क्रोध ठण्डा पड़ गया। वह उसकी ओर देखने लगा तो सजल नेत्रों से कला बोली—मुझे क्यों नहीं कहा था

आपने—मैं बटन लगा देती। देखिये तो कितना खून बह गया।"

त्रिवेणी ने बात टालते हुए कहा—"अरे नहीं, जरासा तो लगा है। ऐसे घाव तो न मालूम कितने ही लगते रहते हैं; साँझ हो गई, जरा लालटेन तो जलाकर ले आओ कला!"

कला ने पूछा—"और जलपान नहीं कीजियेगा? सवेरे भी आप भूखे ही चले गये थे। अभी हलुवा बनाई हूँ—लेती आऊँ थोड़ा सा?"—

और उत्तर की प्रतीक्षा में वह त्रिवेणी का मुँह ताकने लगी।

केवल कला को खुश करने के लिये ही खाने की इच्छा न रहते हुए भी त्रिवेणी ने कहा—"अच्छा, तो एक कटोरी में थोड़ा सा लेती आना।"

कला त्रिवेणी के शब्दों में स्नेह का आभास पाकर प्रसन्न हो उठी।

× × × ×

आज से पहले माता-पिता की अनुपस्थिति में कला को कितनी ही रातें त्रिवेणी के भरोसे काटनी पड़ी थीं। उसके लिये आज यह कोई नई समस्या नहीं थी।

खाना खाकर बरामदे पर पड़ी चारपाई पर लेटा जब त्रिवेणी पुस्तकें पढ़ रहा था—कला समीप ही बैठी लालटेन के प्रकाश में स्वीटर बुन रही थी। जब साढ़े नौ बज गये तो पुस्तकें समेटते हुए त्रिवेणी ने कहा—अब जाकर तुम कोठे सो रहो कला! अन्दर से सीढ़ी का दरवाजा बन्द कर

में इसी जगह सीढ़ी के पास सो रहा हूँ; और रजाई ओढ़कर लेट रहा वह। जब कला सोने के लिये ऊपर जाने लगी तो त्रिवेणी ने पूछा—बर्तन वगैरह सब कमरे में बन्द कर ताली मार दी है तो ?

कला ने मुड़कर उत्तर दिया—हाँ; और वह ऊपर चली गई।

त्रिवेणी ने देखा कि उसकी लाठी कोने में रखी हुई थी—वह निश्चिन्त होकर सो रहा।

× × × ×

त्रिवेणी ने जब मिडिल की परीक्षा पास करली तो पुजारी दीनानाथ के सामने बेटे की आगे की पढ़ाई की समस्या आई। एक गरीब पुजारी—शहर में जिसका कोई लाग-भाग नहीं—अपने बेटे को शहर में रखकर ऊँची शिक्षा दे सके—दीनानाथ जी को बिल्कुल असम्भव जान पड़ा। किन्तु त्रिवेणी के गुणों पर मुग्ध होकर उनके अन्दर की अभिलाषा इतनी बढ़ गई थी कि प्रायः वे सोचते रहते थे—"यदि शहर में कोई इन्तजाम लग जाय इसका तो ऊँची शिक्षा पाकर एक दिन यह भी किसी ऊँचे ओहदे पर बैठे। इसके अध्यापकगण भी तो सब दिन से कहते आ रहे हैं—आप का लड़का बड़ा होनहार है, बड़ी तीक्ष्ण बुद्धि पाई है इसने। यदि उचित सहारा मिलता जाय इसे तो एक दिन यह भी कोई महान पुरुष बने—किन्तु आह ! मैं गाँव के मन्दिर का एक साधारण पुजारी हूँ, दीन हूँ—हीन हूँ, जिसे घर-द्वार भी अपना नहीं। नहीं-नहीं,

तभी से त्रिवेणी मुख्तार साहब के यहाँ रहकर पढ़ रहा था। अपने शील-स्वभाव और रूप-गुण से उसने दोनों प्राणियों का हृदय इस भाँति जीत लिया था कि कला की माँ भी उसे अपने बेटे ही की तरह मानती थी। दोनों प्राणियों का प्यार माता-पिता-सा ही पाकर त्रिवेणी भी प्रसन्न था। उसके जीवन में क्या अभाव था इसे वह बिल्कुल ही भूले बैठा था। बड़े मजे में उसके दिन कट रहे थे। पढ़ने में तेज था, बुद्धि कुशाग्र थी—अतः अध्यापक भी उसे चाहते थे। उसकी सारी फीस माफ थी।

मैट्रिक में स्कालरशिप मिला। मुख्तार साहब तब से उसे और चाहने लगे। अपने सरल स्वभाव, शुद्ध आचरण और भोलेपन से वह हृदय-हृदय में स्थान पा चुका था।

फिर इण्टर की परीक्षा उसने फर्स्ट डिवीजन से पास की। मुख्तार साहब के हृदय में वह और भी गड़ गया। अबतक कला भी सयानी हो चुकी थी। उसका पन्द्रहवाँ पूरा हो रहा था। त्रिवेणी भी इक्कीस–बाईस का हो चुका था। मूँछें उगने लगी थीं।

किन्तु फिर भी त्रिवेणी और कला का वही सम्बन्ध था जो आज से कुछ वर्ष पहले था। उनके शरीर में भले ही परिवर्त्तन दीख पड़ रहा था लेकिन दोनों के परस्पर व्यवहार ज्यों के त्यों थे।

घर में सयानी लड़की कुँवारी देखकर कला की माँ को उसकी शादी की धुन सवार हुई। खाते–पीते, उठते–बैठते

सतत वह मुख्तार साहब को शादी के लिये तंग करती थी। किन्तु मुख्तार साहब थे कि कला उनकी समझ में अभी दूध-मुंही बच्ची ही थी और इसीलिये कला की माँ की बातोंपर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। उन्होंने देखा कि कला और त्रिवेणी में खूब ही पटती थी। त्रिवेणी जैसे सुयोग्य पात्र के संग कला जैसी भावुक और सुशील लड़की खूब सुखी रहेगी। दोनों एक दूसरे से पूर्णतया परिचित भी थे। उन्होंने सोचा—जिस सुयोग्य वर को ढूँढ़ने में बेचारे पिताओं के कितने ही जूते घिस जाते हैं और फिर भी नहीं ढूँढ़ पाते हैं—वही सुयोग्य पात्र जब भगवान ने मेरे घर में लाकर बैठा दिया है तो मैं उसका तिरस्कार क्यों करूँ ? ऐसी बढ़िया जोड़ी और कहाँ मिलेगी ?

अतः मन ही मन कला को त्रिवेणी के संग ब्याह देने का वह निश्चय-सा कर चुके थे। किन्तु वह चाहते थे कि जब त्रिवेणी का बी० ए० समाप्त हो जाय तभी शादी हो। यही सोचकर मुख्तार साहब 'उस दिन' की प्रतीक्षा में निश्चिन्त बैठे थे।

उस वर्ष त्रिवेणी का बी० ए० फ़ाइनल था। आनर्स कोर्स था और कुछ विशेष रूप से उत्तीर्ण होने की अभिलाषा थी। अतः वह खूब मन लगाकर पढ़ रहा था।

एक दिन की बात है। रविवार का दिन था। करीब चार बजे जब मुख्तार साहब आँगन में बैठे जलपान कर रहे थे तो कला की माँ ने विकल होकर पूछा—इस साल का भी

लगन क्या गँवा ही देंगे···? लड़की इतनी सयानी हो गई और आप हैं कि कान में तेल डालकर सोये पड़े हैं।

मुख्तार साहब ने मुस्करा कर पूछा—तो बताओ न तुम्हीं कि क्या करूँ।

"कला के लिये कहीं एक सुन्दर सा घर-वर ढूँढ़िये। इस तरह हाथ पर हाथ धरकर बैठ रहने से तो काम नहीं चलेगा? दो-चार हैं नहीं—एक ही तो बेटी है, इसका भी तो दिल खोल कर ब्याह कीजिये!"

मुख्तार साहब ने धीरे से कहा—वह लड़का तो तुम्हारे घर में ही है—नाहक क्यों परेशान हो रही हो?

कला की माँ उनका संकेत समझ गई। झुँझलाकर बोली—त्रिवेणी के बारे में कहते हैं आप?

त्रिवेणी उस समय दरवाजे पर से आँगन आ रहा था। जैसे ही डेढ़िया के अन्दर घुसा अपना जिक्र सुनकर ठिठक रहा। फिर उसने सुना—मुख्तार साहब बोले—"हाँ त्रिवेणी ही। तुम्हें नहीं पसन्द क्या?—लेकिन इससे अच्छा जमाई तुम्हें और कहाँ मिलेगा? यही, न कि गरीब है वह,—लेकिन हमारी यह सारी जायदाद फिर किसके काम आयेगी? धन का क्या भरोसा?—पात्र ठीक होना चाहिये।" मुख्तार साहब एक ही साँस में इतनी सारी बातें कह गये।

त्रिवेणी का कलेजा जोरों से धड़कने लगा था। अभी वह खड़ा होकर सुन ही रहा था कि तुनककर कला की माँ

बोली—हाँ, जिसे माँ नहीं, रहने का जिसको घर तक नही, जो घोर दरिद्र है उसके साथ मैं अपनी बेटी का मरते दम भी व्याह होने नहीं दूँगी। यदि कला आप को इतनी ही भारी है तो उसे काटकर कुएँ में डाल दीजिये, व्याह के भी खर्च बच जायेंगे तब !

कला की माँ के उन कटु शब्दों को सुनकर त्रिवेणी के सुकुमार हृदय पर एक कठिन चोट पहुँची। उसका नन्हा सा हृदय इस निष्ठुर प्रहार को सह न सका। वह तिलमिला उठा। उल्टे पाँव दरवाजे पर लौट गया। बहुत देर तक पड़ा-पड़ा उदास होकर कुछ सोचता रहा। जब व्याकुल हृदय की वेदना असह्य हो उठी तो कमरे की खिड़कियाँ और किवाड़ें बन्द करके तकिये में मुँह छिपाकर बहुत देर तक रोता रहा। आज उसका सुकुमार हृदय अपमान भरे कटु शब्दों के उन प्रहारों को सहन न कर सका। टूट कर वह टूक-टूक हो गया आज। रह-रह कर उसके कानों में कला की माँ के वे कटु शब्द गूँज रहे थे—जिसे माँ नहीं, रहने का एक घर तक अपना नहीं-जो घोर दरिद्र है, ऐसे कँगले के साथ मरते दम भी मैं अपनी बेटी का व्याह होने नहीं दूँगी।"

और तब से त्रिवेणी उस घर को अपना घर नहीं बल्कि एक पराये का घर समझने लग उसका हृदय आत्म-ग्लानि से भर उठा था। मन में सोचने लगा——ठीक ही तो कहती हैं वह ! उनकी रोटी पर पलनेवाला व्यक्ति उन्हीं की बेटी को व्याहेगा ?

दो-चार दिन की दौड़-धूप में ही उसे शहर में एक अमीर के यहाँ पचास रुपये का ट्यूशन मिल गया।

ट्यूशन मिलते ही उसने मुख्तार साहब का दरवाजा छोड़ दिया और कालेज के होस्टल में रहने लगा। उस घर की एक-एक चीज उसे अब काट खाने को दौड़ती थी। उसे महसूस होता था जैसे वहाँ की हर चीज उसे डाँट-डाँट कर सुना रही हो—"तुम इस घर के आश्रित हो,—किसी के दिये हुए टुकड़ों पर जीनेवाला एक कुत्ता हो तुम।"

अतः उसका स्वाभिमानी पुरुष अन्तर की इन फटकारों को सह न सका। इतने दिनों का स्नेह-बंधन निर्ममतापूर्वक एक ही झटके में तोड़ डाला उसने। बोरा-बिस्तर उठाकर होस्टल चला गया।

एक दिन बीच में वह आया लेकिन कला की माँ किसी दूसरे के आँगन गई हुई थी। त्रिवेणी ने मूक नेत्रों से एक बार कला की ओर देखा तो कला की आँखें उसे देखकर बरस पड़ना चाहती थीं। जैसे पूछना चाहती हों—"इतने दिनों का बँधा स्नेह-बंधन तुमसे तोड़ा कैसे गया त्रिवेणी ?"

त्रिवेणी उसके चेहरे की उदासी और असीम वेदना भरी आँखों की मौन भाषा पढ़कर विचलित हो उठा। वहाँ क्षण भर भी रुकना उसके लिये असह्य हो गया। जब लौटकर जाने लगा तो पीछे से कला ने आवाज दी—"जरा सुनिये, रूमाल यहीं छूट गया है आपका—इसे तो लेते जाइये !"

त्रिवेणी के मन में एक बार आया कि कह दूँ इसे कि यह

मेरा रूमाल नहीं है, इससे मेरा अब कोई प्रयोजन न रह किन्तु ऐसा कह न सका ।

कला कमरे में गई और बक्से से रूमाल निकालकर त्रिवेणी को दे दिया।

त्रिवेणी ने देखा—रूमाल में युगल-मराल जल-विहार कर रहे हैं,—एक कोने में हरे धागे से सुन्दर-सुदर अक्षरों में लिखा था—'कला'।

त्रिवेणी ने आँखें उठाकर देखा—भाव-भरी कला की उन विकल आँखों से मौन आँसू चू पड़े ट···प··· ।

वह वहाँ और अधिक न रुक सका। एक निष्ठुर झटके के साथ उसके पैर देहरी के पार हो गये।

(२)

उस गाँव का नाम था शिवनगर। पुजारी दीनानाथजी उसी गाँव के विहारी-मन्दिर के पुजारी थे। उन्हें अपना घर-द्वार न था। केवल एक पुत्र था—त्रिवेणी। उनकी पत्नी बहुत पहले ही विदा हो चुकी थी। कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे—धर्म-कर्म में विश्वास था उनका। अपने जीवन के वर्त्तमान अभावों को वे पूर्व जन्म की कमाई समझते थे। अतः अपनी अवस्था पर सन्तुष्ट होकर अब दूसरे जन्म की सुन्दर कामना के लिये दिन-रात युगल-छवि की सेवा में लीन रहा करते थे।

शिवनगर को अपने नाम का एक इतिहास था। उस शिवालय के उन भग्नावशेषों को देखकर यह सहज ही समझा जा सकता था कि किसी जमाने में वहाँ शिवजी का एक विशाल मन्दिर था और मन्दिर के आगे एक बहुत बडा

होगा। उस तालाब का भग्न रूप अभी भी था और किसी खन्दक के समान जान पड़ता था। बँधे हुए घाट नीचे दब गये थे। टीलों को खोदने से अभी भी ईंटें निकलती थीं। उसी शिवालय के खँडहर पर आज बर-पीपल के अनेक छोटे-बड़े पेड़ खड़े थे।

वैसे विशाल मन्दिर की ऐसी दुर्दशा क्यों, कब और कैसे हुई — स्पष्ट रूप से यह किसी को भी ज्ञात नहीं। लेकिन ऐसा तर्क किया जाता था कि उसके निर्माता कोई असाधारण लक्ष्मी-पति रहे होंगे जिनका उस मन्दिर के बनाते ही बनाते कोई बड़ा अनिष्ट हो गया और सम्भवतः इसीलिये उन लोगों ने उसे परित्यक्त ही छोड़ दिया। खैर कुछ भी हो, उसकी मरम्मत फिर किसी ने नहीं कराई। मन्दिर में मूर्तियाँ थीं या नहीं, अथवा टीलों के नीचे दब गई थीं, कहा नहीं जा सकता।

उसी तालाब के दूसरे घाट पर करीब बीस-पच्चीस वर्ष पहले गाँव और इलाके के नामी जमींदार रायबहादुर लक्ष्मण-सिंह ने अपने यश और अपनी कीर्ति को अमर करने के लिये बहुत रुपये खर्च कर बिहारीजी का वह मन्दिर बनवाया था और तालाब की मरम्मत भी करा दी थी। उन्होंने ही गाँव के गरीब ब्राह्मण दीनानाथजी को धर्मनिष्ठ और कर्मनिष्ठ समझ कर मन्दिर के भजन-पूजन पर रख लिया था और मन्दिर के नाम चालीस-पचास बीघे जमीन और तहसील में से दो हजार की सालाना आय भी नियत कर दी थी। तब से मन्दिर का पुजारी दीनानाथजी ही बने रहे।

उन वैभव के दिनों में रायबहादुर लक्ष्मण सिंह प्रायः शहर में ही रहा करते थे। गङ्गाजी के किनारे उनका वह आलिशान बंगला साज-सजावट और नौकरों-चाकरों के बीच अलकापुरी-सा ही सुन्दर लगता था। गाँव में ढाई-तीन सौ बीघे की उनकी खेती भी थी। वहाँ भी उनकी पक्की कोठी थी जहाँ पेड़ के नीचे एक मस्त हाथी झूमा करता था। विलायती कुत्ते, सफेद चूहे, जापानी गिलहरी और सतरंगे पंखवाले मयूर – मयूरनी तथा अन्य भी सुन्दर-सुन्दर जीव-जन्तु कोठी के आस-पास निर्बन्ध और निश्शंक विचरा करते थे। सिपाही और प्यादे भी दिन में थोड़ा-बहुत काम करके संध्या समय ठण्डई चढ़ाकर उस मस्त हाथी की ही भाँति दरवाजे पर झूमा करते थे और जब रायबहादुर चार चोबदार प्यादों के साथ अपनी फिटन पर गाँव आते थे तो सारे नौकर-चाकर भयातुर होकर आगे-पीछे "जी-हुजूर ... जी-हुजूर..." की रटन लगाने लगते थे। उस समय जमींदारी की तहसील पच्चीस-तीस हजार की थी। गाँव के पूरब एक भारी बगीचा था जिसमें उनका एक 'उद्यान-गृह' भी था। उस 'उद्यान-गृह' के आगे एक सुन्दर-सी फुलवाड़ी थी जिसमें विभिन्न प्रकार के फल-फूल बारहों महीने लहराया करते थे।

किन्तु समय की ढलती वेला के साथ-साथ उस सर्व श्री-सम्पन्न परिवार की भी श्री शनैः-शनैः संध्या की कालिमा में लुप्त होने लगी।

रायबहादुर की अकेली संतान—ठाकुर शैलेन्द्रजीत सिंह

जो कभी वैरिस्टरी पढ़ने के लिये इङ्गलैण्ड भेजे जानेवाले थे—काल-चक्र से अवरुद्ध होकर शहर में ही वकालती करने लगे थे। रायबहादुर तो मर चुके थे किन्तु अपने पीछे एक ऐसा मुकद्दमा छोड़ गये कि उसी में सारी सम्पत्ति स्वाहा हो गई। शहर का बंगला विक गया, जमींदारी नीलाम हो गई, काफी रुपये कर्ज हो गये—तब कहीं मामला शान्त हो पाया। राय-बहादुर ने एक मेम साहब से अपमानित होकर उसे गोली मार दी थी। अंग्रेजों का जमाना था—जान पर आ पड़ी उनकी। सारे धन को पानी की तरह वहाकर तब कहीं इज्जत वच पाई।

और वकील साहव शैलेन्द्रनाथ सिंह की अकस्मात मृत्यु के वाद रायवहादुर के पोते कमलकान्त को वी० ए० पास कर हाई स्कूल की एक मास्टरी पर ही संतोष कर लेना पड़ा।

मन्दिर की वह आमदनी तो वन्द हो ही चुकी थी—मन्दिर के खेत भी अच्छी तरह आवाद नहीं हो पाते थे। लगातार कई वर्षों तक दुर्भिक्ष पर दुर्भिक्ष पड़ता रहा। किसान-मजदूर सभी वेदम हो गये थे। खेत आवाद करने की किसी को इच्छा ही नहीं होती। सीधे-सादे ग्रामीण भी पेट पालने के लिये कलकत्ता-कटिहार और हुगली भागने लगे।

किन्तु दीनानाथजी ने मन्दिर को नहीं छोड़ा। जैसे-तैसे पुजारी का पद निभाते गये। इन सारी वातों को वह विहारी जी की कृपा ही समझते थे।

किन्तु वह अपने होनहार पुत्र के उज्ज्वल भविष्य की एक मधु कल्पना में सतत लीन रहा करते थे। सर्वदा एक सपना

देखा करते थे कि उनका बेटा किसी ऊँचे सरकारी पद पर पहुँचा है, वह एक सुन्दर-सी दुलहिन व्याह लाया है। फिर एक छोटा-सा सुन्दर घर बन गया, बहू उन्हें परोस कर खिलाती है और वह उसे अपने जीवन के कटु अनुभवों का उपदेश और ज्ञान देते हैं।

इस वर्ष कई जगहों में बेटे के व्याह की बात भी चला रहे थे। चाहते थे—त्रिवेणी का इम्तहान जब समाप्त हो जाय तो वह स्वयं ही जाकर लड़की को देख आवे। कला से सम्बन्ध होने की चर्चा का भी उन्हें आभास मिल चुका था। अतः मिला-जुलाकर वह सभी भाँति प्रसन्न थे।

किन्तु त्रिवेणी ?—

व्यथित हृदय को पत्थर बनाकर अपने पथ पर आगे बढ़ा जा रहा था। उसका बी० ए० का इम्तहान शुरू हो गया था। कुछ पर्चे हो भी चुके थे कि एकाएक उसे पिता की अकस्मात मृत्यु का दुःखद समाचार मिला।

वह शोकातुर हो विह्वल हो उठा। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया। लगा जैसे पैर के तले की जमीन ही खिसक गई हो अथवा सिर पर आकाश ही टूटकर गिर पड़ा हो।

इम्तहान अधूरा ही छोड़कर दाह-संस्कार के लिये उसे गाँव जाना पड़ा।

अपने ही हाथों जब उसने पिता के मुँह में आग डाली तो वह मार्मिक दृश्य उससे देखा न जा सका। वह बेहोश होकर गिर पड़ा।

फिर लोगों ने पकड़-धकड़ कर किसी तरह दाह-संस्कार समाप्त कराया। माँ मरी थी—उसकी उसे कोई स्मृति शेष न थी, न मरने का उसे कोई दुःख ही था।

माँ बालकों के लिये आवश्यक भी होती हैं,—उसने यह जाना ही नहीं। सारा जीवन पिता से ही उसे माँ का प्यार भी मिलता रहा।

किन्तु आज जब सिर पर से उस पिता की भी शीतल छाँह हट गई तो विकल हो उठा वह। तब उसने अपने जीवन को अनन्त अभाव और आँसू से ही परिपूर्ण पाया। अपना भविष्य उसे इतना अंधकारमय प्रतीत हुआ कि उसे अपने जीवन का कोई लक्ष्य ही न दिखाई पड़ता। पिता की मृत्यु के बाद एक समस्या उसके सामने जटिल प्रश्न बनकर आई—वह कहाँ जाय और क्या करे! न कोई घर अपना था, न कोई जगह जायदाद ही अपनी थी। पिता उसके सारे संसार को ही अपने साथ समेटकर चला गया था।

कभी उसके मन में उठता—"क्यों न शिवनगर से सारा सम्बन्ध ही तोड़कर शहर चला जाऊँ और वहीं कोई काम-धन्धा करके अपना जीवन बिताऊँ?"

किन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचने लगता—"किन्तु उस जीवन का लक्ष्य क्या होगा? कमाकर करूँगा क्या? किसके लिये कमाऊँगा?—ना, ना,—मुझे तो आजीवन अकेला ही रहना है! जिसको धन-सम्पत्ति और घर-द्वार तक नहीं, माँ-बाप नहीं;—जो कंगला है,—बेअवलम्ब और बेसहारा है—

उसे भला कौन बेटी देगा ? क्या हर कन्या की माँ कला की माँ की ही भाँति मुझसे घृणा नहीं करेगी ?—ना, मैं अभागा हूँ। संसार के सारे सुख-भोग और राग-रङ्गों के दरवाजे मेरे लिये बन्द हैं। मैं उस अधिकार से वंचित हूँ।"

फिर कुछ दिनों तक वह शहर में रहा किन्तु भटकता-सा-अशान्त। बहुत करने पर भी जब वहाँ उसका जी न लगा तो गाँव लौट गया।

वहाँ देखा—मन्दिर सूना-सूना-सा उदास लग रहा था। उसका हृदय चीत्कार कर उठा। सोचने लगा—पिताजी के मरते ही मरते मन्दिर की ऐसी दुर्दशा ! कोई झाड़ू-बुहाड़ू भी देने-वाला नहीं ? क्या मानव-हृदय से धर्म और कर्म की भावना इस तरह लोप हो चली है ? इतने बड़े गाँव में मन्दिर जैसी धार्मिक और पुनीत संस्था की यह दशा !—और उसे लगा जैसे मन्दिर की ईंट-ईंट पुजारीमय होकर पिता के उस रिक्त स्थान को भरने के लिये उसे पुकार रहीं हों। मन्दिर की ध्वजा उदास होकर हवा में डोल रही थी। उसका हृदय भर आया। पिता के द्वारा लगाये हुए उस पौधे को अपनी ही आँखों के सामने इस भाँति नष्ट होते देखा न गया उससे। उस मुरझाये पौधे को सींचने के लिये उसके हृदय ने उसे ललकारा। पिता के आदर्शों और पुनीत जीवन की उन बिखरी धाराओं को प्रवा-हित ही रखने के लिये उसकी कामना मचल उठी।

किन्तु ऐसी सार्वजनिक सेवाओं के लिये व्यक्ति के चित्त की एकाग्रता, माया-मोह से मुक्ति और ब्रह्मचर्य का सत्य तेज

अपेक्षित है; अन्यथा मन्दिर जैसी धार्मिक और सांस्कृतिक संस्था भी पाप का अड्डा वन जाती है।

लेकिन जब उसके मानस-पटपर अतीत की वे मधुर स्मृतियाँ अंकित हो उठतीं तो एकाकी जीवन की जटिलता उसे कँपा देती। तब उसके मन में एक रंगीन कल्पना ऊधम मचाने लगती। कला की वह स्निग्ध रूप-छाया, वह श्रद्धा और विश्वास तब लाख भुलाने पर भी वह नहीं भूल पाता।

और दूसरे ही क्षण उसे जब परिस्थिति का ज्ञान हो आता कि कला उसे मिल नहीं सकती—उसकी आशा और कल्पना ही व्यर्थ है,—तो वह बेचैन हो उठता। ऐसी ही बेचैनी में भटकते हुए उसके डेढ़-दो साल गुजर गये। विचित्र समस्या थी उसके सामने। वह किसको छोड़े और किसको अपनाये। मन्दिर की तरफ कोई ताकनेवाला भी नहीं था। यहाँ तक कि सलाना पुताई भी उसकी नहीं हो पाती थी। मन्दिर के आँसू देखकर उसका हृदय भी रो पड़ता। तब उसका अन्तर जोरों से चिल्ला उठता—"इतने बड़े गाँव में एक सार्वजनिक मन्दिर की यह दुर्दशा ? आह ! इसकी रक्षा अनिवार्य है, नहीं तो गाँव से धर्म-कर्म और संस्कार ही लुप्त हो जायेंगे।"

अन्त में अनेक तर्क-वितर्कों के वाद त्रिवेणी ने संसार को अपना निर्णय सुना दिया। अपने अंगों पर श्वेत वस्त्रों का सात्विक वेष धारण कर जब उसने पिता के आसन को ग्रहण किया तो लोगों ने दाँतों अँगुली काटी—"कालेज का एक होनहार युवक इसी उम्र में संन्यास ग्रहण कर एक साधारण-सा

मन्दिर का पुजारी बनकर रह जाय—आश्चर्य !"

लेकिन त्रिवेणी अपनी धुन में मस्त था। उसने संसार से जो एक बार मुँह मोड़ा सो मोड़े ही रह गया।

नियमित भजन-पूजन, शास्त्रीय संध्या-नमस्कार और मानव के प्रति सच्ची सेवा की भावना ने चन्द ही दिनों में उसे ख्यात कर दिया। भागवत की पुनीत कथाओं और रामायण की छन्द-चौपाइयों को रस और अनुराग में पागकर मधुर कण्ठ से जब वह श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता तो उसके सरस धार्मिक प्रवचनों को सुनकर समस्त श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध हो उठते थे। श्रोताओं में बड़े-बूढ़ों के अतिरिक्त अच्छे-अच्छे घरों की बहू-बेटियाँ भी उन मंगल प्रवचनों को सुनने के लिये आने लगीं।

आस-पास के गाँववाले भी उसे छोटे पुजारी के नाम से जानने लगे थे। उसमें जनता की सेवा के सच्चे भाव, उच्च और आदर्श चरित्र तथा प्रकाण्ड विद्वत्ता देखकर सबने सादर शीश झुका लिया। उसकी आलोचना करने की किसी में हिम्मत न थी। गाँव की निरक्षर जनता रामायण, महाभारत तथा सूर-सागर और पुराणों की रुचिकर कथाएँ उसके मुँह से एक नवीन और अनूठे ढंग से कहते सुनकर गद्गद हो उठती थी। आज से पहले भी गाँव में इस तरह की कथाएँ अनेक बार अन्य पण्डितों के द्वारा हो चुकी थीं। किन्तु ऐसी भावाभिव्यक्ति, अनुरंजन और पद-विन्यास तथा भक्ति-भाव में विभोर मुख-मुद्रा उन लोगों ने कभी नहीं देखी थी। मगन

भाषी, स्पष्टवादी और उसके समान गरीबों का सच्चा हितैषी उन्हें कोई और न मिला था। स्त्रियों ने वैसा संयमी युवक और युवक का वैसा अप्रत्याशित त्याग कभी नहीं देखा था। युवतियों को--नारी के मान, अधिकार और उनके आदर्श त्याग की वैसी सुन्दर विवेचना करनेवाला कोई और दूसरा नहीं मिला था। बच्चे पाठशाला से लौटकर मन्दिर जाते थे और कुछ समय तक पुजारी के साथ खेलते थे तथा प्रति-दिन की 'संध्या' में सम्मिलित होकर झाँझ-घड़ियाल और शङ्ख बजाया करते थे। छोटा पुजारी हृदय-हृदय में श्रद्धा और विश्वास का स्थान पा चुका था और उसके भी हृदय में सब के प्रति दया और सम्मान का भाव था।

मन्दिर में एक अधेड़ उम्र का नौकर था—मिट्ठू। मिट्ठू अपने यौवन-काल से ही बड़े पुजारी तथा विहारी-मन्दिर की सेवा-सुश्रूषा करता आया था। उसे प्रसाद के रूप में एक पेट भोजन मिल जाया करता था—बस, इतना ही उसके लिये पर्याप्त था। अपने संसार का वह अकेला ही था। न आगे नाथ था न पीछे पगहा। उसके हृदय में यह धारणा दृढ़ होकर जम गई थी कि उसका जन्म ही केवल भगवान की सेवा के लिये हुआ है; अन्यथा उस भरी जवानी में ही उसका हरा-भरा सुन्दर-सा संसार इस भाँति उजड़ क्यों जाता?

इन्हीं तर्कों से परास्त होकर अपनी अवस्था पर उसने सन्तोष करना सीख लिया था।

मिट्ठू त्रिवेणी को बचपन से ही बहुत चाहता आया था।

मन्दिर का पुजारी बनकर रह जाय—आश्चर्य !"

लेकिन त्रिवेणी अपनी धुन में मस्त था। उसने संसार से जो एक बार मुँह मोड़ा सो मोड़े ही रह गया।

नियमित भजन-पूजन, शास्त्रीय संध्या-नमस्कार और मानव के प्रति सच्ची सेवा की भावना ने चन्द ही दिनों में उसे ख्यात कर दिया। भागवत की पुनीत कथाओं और रामायण की छन्द-चौपाइयों को रस और अनुराग में पागकर मधुर कण्ठ से जब वह श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता तो उसके सरस धार्मिक प्रवचनों को सुनकर समस्त श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध हो उठते थे। श्रोताओं में बड़े-बूढ़ों के अतिरिक्त अच्छे-अच्छे घरों की बहू-बेटियाँ भी उन मंगल प्रवचनों को सुनने के लिये आने लगीं।

आस-पास के गाँववाले भी उसे छोटे पुजारी के नाम से जानने लगे थे। उसमें जनता की सेवा के सच्चे भाव, उच्च और आदर्श चरित्र तथा प्रकाण्ड विद्वत्ता देखकर सबने सादर शीश झुका लिया। उसकी आलोचना करने की किसी में हिम्मत न थी। गाँव की निरक्षर जनता रामायण, महाभारत तथा सूर-सागर और पुराणों की रुचिकर कथाएँ उसके मुँह से एक नवीन और अनूठे ढंग से कहते सुनकर गद्गद हो उठती थी। आज से पहले भी गाँव में इस तरह की कथाएँ अनेक बार अन्य पण्डितों के द्वारा हो चुकी थीं। किन्तु ऐसी भावाभिव्यक्ति, अनुरंजन और पद-विन्यास तथा भक्ति-भाव में विभोर मुख-मुद्रा उन लोगों ने कभी नहीं देखी थी। सरल

भाषी, स्पष्टवादी और उसके समान गरीबों का सच्चा हितैषी उन्हें कोई और न मिला था। स्त्रियों ने वैसा संयमी युवक और युवक का वैसा अप्रत्याशित त्याग कभी नहीं देखा था। युवतियों को--नारी के मान, अधिकार और उनके आदर्श त्याग की वैसी सुन्दर विवेचना करनेवाला कोई और दूसरा नहीं मिला था। बच्चे पाठशाला से लौटकर मन्दिर जाते थे और कुछ समय तक पुजारी के साथ खेलते थे तथा प्रति-दिन की 'संध्या' में सम्मिलित होकर झाँझ-घड़ियाल और शङ्ख बजाया करते थे। छोटा पुजारी हृदय-हृदय में श्रद्धा और विश्वास का स्थान पा चुका था और उसके भी हृदय में सब के प्रति दया और सम्मान का भाव था।

मन्दिर में एक अधेड़ उम्र का नौकर था—मिट्ठू। मिट्ठू अपने यौवन-काल से ही बड़े पुजारी तथा विहारी-मन्दिर की सेवा-सुश्रूषा करता आया था। उसे प्रसाद के रूप में एक पेट भोजन मिल जाया करता था—बस, इतना ही उसके लिये पर्याप्त था। अपने संसार का वह अकेला ही था। न आगे नाथ था न पीछे पगहा। उसके हृदय में यह धारणा दृढ़ होकर जम गई थी कि उसका जन्म ही केवल भगवान की सेवा के लिये हुआ है; अन्यथा उस भरी जवानी में ही उसका हरा-भरा सुन्दर-सा संसार इस भाँति उजड़ क्यों जाता ?

इन्हीं तर्कों से परास्त होकर अपनी अवस्था पर उसने सन्तोष करना सीख लिया था।

मिट्ठू त्रिवेणी को बचपन से ही बहुत चाहता आया था।

वह उसे प्यार से त्रिवेणी के बदले वेणी ही कहकर पुकारता। और जब वह शहर में पढ़ने लगा और मूँछ की रेखाएँ उसकी भींग चलीं तो फिर उसे वेणी बाबू कहने लगा।

त्रिवेणी को पिता की मृत्यु के बाद मिट्ठू का ही सच्चा स्नेह प्राप्त हुआ। वह सतत उसके सिर की एक शीतल छाँह बनकर उसके मंगल की कामना किया करता था। त्रिवेणी बचपन से ही उसे मिट्ठू दादा कहकर पुकारता आया था।

मन्दिर में छोटे पुजारी का काम केवल युगल-मूर्ति की पूजा ही कर देनी थी। इसके बाद वह सर्वोदय के भावों से ओत-प्रोत होकर जन-कल्याण का रचनात्मक कार्य किया करता। मन्दिर के सामने ही वह तालाब था। उसके चारों ओर ऊँचे-नीचे टीले थे जिनमें छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाकर नाना प्रकार के फल-फूल और साग-सब्जियाँ उपजाई जाने लगी थीं। इन रचनात्मक कार्योंमें मिट्ठू से काफी सहयोग मिलता था। मन्दिर में एक गाय भी थी। तालाब से जल खींचकर टीलों की सिंचाई होती थी। रंग-बिरंगके फल-फूलों से सजे तालाबके हरे किनारे बड़े ही मनोरम लगते थे। तालाब की श्वेत जल-लहरों के ऊपर श्वेत, नील और लाल-लाल कमल गोल-गोल श्यामल पुरइन के दलों के ऊपर बड़े ही मनभावन लगते थे। ग्रीष्म की सन्ध्या में छोटे-छोटे पक्षियों का मधुकूजन और शीतल-सुखद-सुन्दर समीर की सौरभान्वित मन्द-मन्द लहरें थकित प्राणियों को उनकी समस्त क्लान्ति दूर कर एक स्फूर्ति और नवचेतना दे जाती थीं। ऐसी ही अनेक सन्ध्या में त्रिवेणी तालाब के किनारे

किसी प्रशस्त शिला-खण्डपर बैठकर प्रायः जन-जीवन की अनेक जटिल समस्याओं पर घन्टों मनन किया करता तथा विकास की नई-नई योजनाएँ बनाया करता था।

बचपन से ही उसे मानव के वर्तमान सामाजिक जीवन में अनेक अभाव और त्रुटियाँ दिखाई पड़ीं। उसमें सुधार लाने के लिये और जन-जीवन को उच्च और आदर्श बनाने के लिये एक नैतिक क्रान्ति की कामना वह बहुत दिनों से करता आया था। उसने देखा—उसके अनेक साथी स्कूल और कालेजों से निकल-निकल कर नौकरी की तलाश में भटकते रहे और लाखों आरजू मिन्नतें करने के बाद हजार-पाँच सौ घूस देकर तब कहीं सौ-सवा सौ की नौकरी पा सके। विद्यार्थी-काल में यही समस्या उसके चिंतन का विषय रही। अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब तक यह आर्थिक विषमता दूर नहीं हो जायगी—मानव का नैतिक विकास हो ही नहीं सकता। और जब तक समाज में पूर्ण नैतिक विकास नहीं हो जाता है तब तक मन्दिर-मस्जिद, नमाज-पूजा सभी व्यर्थ हैं।

चोर चोरी करता है—इसलिये कि वह भूखा है। ऐसे चोरों को पकड़कर उन्हें पीटा जाय और उनकी आदत छुड़ाने के लिये आदर्श और नैतिकता का पाठ पढ़ाने के लिये यदि उन्हें जेलों में ठूँस दिया जाता है तो व्यर्थ। इस भाँति चोरों की संख्या घटने के बजाय बढ़ती ही है। उनकी बुरी आदतों को छुड़ाने के लिये समाजमें एक जोरदार क्रान्तिकी आवश्यकता है। आर्थिक समस्याओं का हल, नैतिक बिकास के लिये उचित शिक्षा, उप-

देश और ज्ञान-दान की सेवा अपेक्षित है। बिना आर्थिक सुधार के ये समस्त क्रान्तियाँ और ज्ञान-उपदेश व्यर्थ हैं—आग्रह्य हैं।

अतः आज सब से पहले रोटी और दाल का प्रश्न हल होना चाहिये। कमानेवालों को रोजगार नहीं मिलता है,—जो खट-खट कर मर जाते हैं पेट के चारों कोने भी नहीं भर पाते। कोई सोने की रोटी खाता है और कोई रोटी के लिये सोना चुराता है; आह, कितना अन्तर है दोनों में!

जब तक यह आर्थिक विषमता दूर नहीं हो जायगी समाज में सच्चे सुख और शान्ति का आविर्भाव हो ही नहीं सकता।

और जन-जीवन के सुधार की पहली क्रान्ति होनी चाहिये—एक भीषण आर्थिक सुधार की क्रान्ति। इन आर्थिक विषमताओं से ही मानव-जीवन में दिन-ब-दिन एकता का अभाव, असहयोग,फूट-बैर और बर्बरता फैल रही है। जन-जीवन अशान्त हो उठा है। दिन-प्रतिदिन ज्ञान और विवेक का पतन हो रहा है। आज के स्कूल-कालेज भी केवल आफिस और कारखानों में किरानी 'सप्लाई' करने की संस्था मात्र हैं,—स्वावलम्बन और स्वाभिमान की शिक्षा का पूर्णतया अभाव ही रहता है इनमें।

उसने कुछ सिद्धान्त भी बनाये थे जिनके उचित प्रयोग और परिणाम पर ही उसके भावी जीवन के कार्य-क्रम निर्धारित थे। सहज साधन में ही अधिक अन्न उपजाना, कम से कम खर्च में जन-जीवन को सुखी, स्वस्थ और शान्तिमय

बनाना तथा जीवनोपयोगी ज्ञान और धर्म की सच्ची प्राप्ति कराना।

ये सारी कल्पनाएँ बड़ी जटिल थीं। इनमें सारे कामों को एक ही साथ साधना खतरे से खाली न था। किसी भी भयानक असफलता का भय गला दबोचे रह सकता था, क्योंकि सामाजिक दोष और व्यभिचार उसके प्रत्येक कार्य में बाधक बन सकते थे। अतः सर्वप्रथम उसे निज के ही चरित्र को गठित करना था—फिर जन-साधारण का सहयोग और विश्वास प्राप्त करना।

और यह तभी संभव था जब वह अपने 'अहं' को भूलकर ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, सबल-दुर्बल सब को समान रूप से देखता—हृदय से उनकी सच्ची सेवा कर पाता।

और जब सचमुच ही त्रिवेणी ने अपनी उन कल्पनाओं को चन्द ही रोज में साकार कर दिखाया तो जनता उस पर इस भाँति जान देने लगी—जैसे गुड़ पर मक्खी। वह उसकी हर बात मानने को तैयार थी।

——

(३)

वकील साहब को मरने के समय केवल एक ही बात का मलाल रह गया था कि आँखों से वह बेटी कानन के हाथ पीले होते नहीं देख पाये।

उन्हें केवल दो ही सन्तान थीं—बेटा कमल और बेटी कानन।

कानन बड़ी सुशील, सुन्दरी, सुभाषिणी और सुहासिनी थी। वकील साहब उसे बेहद चाहते थे।

और मरते समय जब दुलारी कानन को उसके अंधेरे भविष्य के सहारे छोड़कर जाने लगे तो उनकी आँखें छलछला आईं। उस समय कानन सोलह साल की हो चुकी थी। दो साल से उसके व्याह की बातें चल रह थीं किन्तु रुपये के अभाव के कारण व्याह न हो सका।

उस समय कमल कान्त भी काफी सयाना हो चुका था और वहीं एक स्थानीय स्कूल में अध्यापकी करने लगा था।

जब वकील साहब की साँस छूटने लगी थी तो कमल कान्त को पास बुलाकर उन्होंने कहा था—"बेटा, लक्ष्मी तो चञ्चला है! आज यहाँ है तो कल वहाँ। किन्तु संसार में कुछ स्थाई हैं तो वह नाम-काम और इज्जत-प्रतिष्ठा। पुरुखों के द्वारा अर्जित गौरव का नष्ट होना जीवन की सबसे हीनावस्था है। तुम तो पुरुप हो, कमा-कोड़ कर भी खाओगे; तुम्हें कोई

लाज नहीं—किन्तु कानन उस परिवार की कन्या है जिसके खँडहर की ईंटें अभी भी उसके विगत वैभव के गीत गा रही हैं।—इसका व्याह किसी उच्च खानदान में करने का विचार रखना बेटा !"

और कमल ने पिता की उस अन्तिम अभिलाषा को नत-मस्तक हो स्वीकार किया। फिर कमल भी तो कानन को बहुत चाहता था। जब वह छोटी थी—कमल उसे खूब खेलाया करता था किन्तु अब वह सयानी हो गई थी और संकोच और लाज ने उसमें घर कर लिया था। स्वभाव में एक विचित्र गंभीरता आ गई थी उसके। कमल से करीब आठ-दस साल की छोटी थी वह। कमल की पत्नी देवकी भी उस पर जान देती थी। वह लड़की ही ऐसी थी कि हर व्यक्ति उसे कलेजे में छिपा लेना चाहता था।

उसी वर्ष कमल ने परम्परानुसार कानन का व्याह एक कुलीन जमींदार के घर ठीक किया। जमींदारी उनकी मामूली ही थी किन्तु रहन-सहन और ठाट-बाट ऊँचे दर्जे के रईसों का था। लड़का बी० ए० पास कर एम० ए० में गया था। उसका नाम था अजीत। वह पटना में पढ़ता था। उसे दस हजार का तो केवल तिलक ही चढ़ा था।

उस शुभ लग्न की मंगल वेला में कानन की मांग में सिन्दूर पड़ा। शाही ठाठ की बारात थी। बाजे-गाजे, नाच-गान रङ्ग-रवाइश सभी चीजें निराली थीं। बड़ी धूम-धाम से सुहानी रात की उन मधु-घड़ियों में हार्दिक उल्लास की चरम सीमा पर

वर-वधू का शुभ विवाह शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ। कमल ने दिल और मुट्ठी दोनों खोलकर खर्च किया। आज वह कानन को पिता का अभाव अखड़ने नहीं देना चाहता था। माँ के पास के जमा पैसे, वकील साहब के 'बैंक-बैलेंस' तथा माँ और देवकी के कितने ही कीमती गहने भी बनियों के घर चले गये, फिर भी उसने हिम्मत न हारी। देवकी भी उसे ढाढ़स बंधाती रही थी। बारात खुश होकर विदा हुई। चारों तरफ कमल की जै-जैकार मचने लगी। माँ को भी ऐसे पुत्र पर गर्व हुआ।

किन्तु कानन को ही कभी यह पसन्द नहीं था कि उसके लिये उसके भाई-भौजाई तबाह हो जायँ! वह सोचती थी:—मनुष्य तो मनुष्य को केवल बाह्य आनन्द ही दे सकता है न! सच्चा सुख और आनन्द तो केवल भगवान की कृपा से ही उपलब्ध हो सकता है। मनुष्य जो चाहे वह होगा ही—बिल्कुल असम्भव! भौतिक सुखों के लिये मानव न मालूम कैसी-कैसी चेष्टाएँ करता है और सम्भवतः कुछ अंशों में प्राप्त भी कर लेता है; किन्तु मानवी चेष्टा जब तक ईश्वर के द्वारा स्वीकार नहीं हो जाय—सुख और शांति की उपलब्धि सर्वथा असम्भव ही है।

यदि ऐसा न होता तो संसारमें आज दुःख और शोक नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती।

अपने व्याह में वह बीस-बाईस हजार का खर्च देखकर दंग रह गई। उसे इस आडम्बर और तड़क-भड़क का तनिक भी हर्ष न था। रह-रहकर उसका अंग किसी अज्ञात भय से

सिहर उठता था। "भाई को रंक बनाकर बहन सुखी रहे"—यह कानन के लिये असह्य था। व्याह में अपने भाई की शाह-खर्ची पर विरोध करना भी चाहती थी किन्तु यह सोचकर चुप रही कि अपने व्याह के सम्बन्ध में कुलीन कन्यायें कभी मुँह नहीं खोलतीं। और फिर उस भाई से कैसे कहती जो स्वयं पढ़ा-लिखा समझदार था और कानन जिसकी आँखों की पुतली थी।

अतः कानन अन्यमनस्क-सी बनी व्याह की सारी बातें एक कठपुतली की तरह निर्वाक होकर देखती-सुनती रही। लेकिन उसके हृदय में समाया वह अज्ञात भय रह-रहकर उसे कँपा जाता।

और डोली में चढ़कर जब विदा होने लगी तो वह खूब रोई। इतनी रोई कि आजतक लोगों ने विदाई में लड़की का वैसा हृदयविदारक क्रन्दन कभी सुना ही नहीं था। सबको आश्चर्य हुआ।

वह विदा हो गई। घर सूना-सूना सा लगने लगा। कमलकान्त भी स्कूल चला गया। किन्तु माँ और देवकी नहाते-धोते, खाते-पीते कानन की सुधि में दो-दो आँसू बहा लिया करती थीं।

वकील साहब की मृत्यु के बाद से ही कमल की माँ का स्वास्थ्य क्षीण हो चला था--उस पर प्यारी कानन का यह वियोग! दिन-दिन उसकी रुग्नता बढ़ती ही गई। अन्त में तीन-चार महीने के बाद एक दिन उसकी हालत ऐसी खराब हो गई कि कमल-कान्त को बुला लाने के लिये एक आदमी स्कूल दौड़ा। और जैसे

ही घबड़ाया हुआ वह आया कि कुछ ही छणों के बाद माँ ने चिर-निद्रा में आँखें बन्द कर लीं।

माँ के मरते ही कमल का परिवार उजड़ गया। उदास-सा आँगन उसे काट खाने को दौड़ता था। देवकी भी घबड़ाई हुई रहती थी। फिर उसकी यह गर्भावस्था भी थी। परिस्थिति बड़ी सोचनीय हो गई थी।

घर में कोई वैसा आर्थिक अभाव नहीं था। पचास बीघे जमीन अब भी बच गई थी। सौ-सवा-सौ का महीना कमलकान्त भी पाता ही था। लेकिन वह पारिवारिक अभाव से ऊब उठता था। अकेला वह कितना देखता और क्या-क्या देखता! घर में एक बूढ़ा नौकर और एक दासी थी। गर्भवती देवकी का मन उस सूने घर में ऊब गया था। नैहर जाने की प्रबल इच्छा रहते हुए भी नहीं जा सकी। फिर उतना बड़ा घर किसके जिम्मे छोड़कर जाती?

कभी सोचती कि "प्रसव के दिनों में कानन को मँगवा लूँ तो मेरा भी मन बहल जाय और इस बहाने बेचारी की विदागरी भी हो जायगी, नई-नई वह ससुरारमें घबड़ा रही होगी।" किन्तु फिर सोचती—"व्याही हुई कन्या का भला नैहरसे कितने दिनों का साथ?"

× × × ×

कानन जब ससुरार पहुँची तो लोग उसे देखकर प्रशंसा करने लगे। सबको आश्चर्य हुआ—ऐसी रूपवती?—बाप रे!

उतने गहनों और कीमती वस्त्रों में सजी वह साक्षात

दुर्गा की प्रतिमा-सी सुन्दर लगती थी। मालूम पड़ती थी किसी राजघराने की कन्या हो।

और कानन ने जब किसी के मुँह से सुना—अहा, "दुलहिन तो कोई राजकुमारी हैं" —तो अपने पुरखों के गौरव-गान के बोझ से वह झुक-सी गई। रायबहादुर अब नहीं थे लेकिन उनके नाम और काम अभी भी गूँज रहे थे।

कानन के ससुर को इस बात का गर्व था कि एक रायबहादुर की पोती को अपनेघर लाये हैं। व्याह में पाये मान और सम्मान से वह इतने सन्तुष्ट थे कि बैठकखाने में वहाँ के रीति-रिवाज और आचार-विचार का प्रायः ही जिक्र किया करते थे। एकही साथ रूप और धन दोनों का इतना भरा-पूरा भंडार पाने की उन्हें आशा नहीं थी।

वहाँ वालों को जब कानन के शील और मधुर स्वभाव का परिचय मिला तो सबों ने एक स्वर में कहा—"घर में साक्षात लक्ष्मी ही आ गई है।" सभी उसे कलेजे में छिपाकर रख लेना चाहते थे। लेकिन न मालूम स्वयं कानन ही सतत् क्यों उदास रहा करती थी! पति के संग क्षण-दो-क्षण भलेही हँस-बोल लिया करती थी लेकिन उसका हृदय सर्वदा यह चाहता रहता था कि कहीं एकान्त पाकर जीभर खूब रोले! उस अज्ञातपीड़ा का रहस्य स्वयं उसे भी ज्ञात न था।

माँ के श्राद्ध में भी वह नैहर नहीं जा सकी थी। मृत्यु का संवाद सुनकर इतनी रोई कि उसे जोरों का बुखार चढ़ आया और आठ-नौ दिन तक बिस्तर पर ही पड़ी रही। फिर जब

अच्छी हुई तो नैहर जाने के लिये छटपटाने लगी। उसके सास-ससुर विदा करने के लिये तैयार भी थे किन्तु लिवा लाने के लिये कोई गया ही नहीं।

यौवन के उन रंगीन दिनों में कानन धीरे-धीरे माँ की सुधि भी भूलती गई। सारे घर का प्यार बटोरने में वह इतनी व्यस्त रहती कि अपने अभावों पर विचार करने की उसे फुर्सत ही नहीं मिलती। मोती और माया भी उसे खूब उलझाये रहते। मोती करीब ग्यारह साल का था और सात-आठ साल की थी माया। दोनों बच्चे उससे खूब ही पट गये थे। कानन को भी उन बच्चों के साथ मन बहलाने का अच्छा अवसर मिल जाता था।

किन्तु फिर भी वह कभी-कभी उदास दीख पड़ती थी। उसे अपने पति का ही प्यार एक रहस्य-सा प्रतीत होता था। पति को वह जितने निकट सम्पर्क से प्राप्त करना चाहती थी उसका पति अपने रहस्यात्मक प्रणय-व्यापारों से उतना ही उसके लिये एक पहेली बनता जा रहा था। तब पति के प्यार का उचित अन्दाज पाने के लिये वह विकल हो उठती थी। उसे पति का प्यार कितना मिलता था—इसे वह भली भाँति समझती थी; और नहीं मिलता था—ऐसा वह कह नहीं सकती थी, क्योंकि उसके पास इसका कोई प्रमाण नहीं था। किन्तु कानन का वह भावुक मन केवल 'उतने' से सन्तुष्ट भी नहीं रह सकता था। पति का प्यार उसे मिलता है; और नहीं मिलता है—इस 'हाँ' और 'ना' के बीच कानन में कितने ही

फूल खिलते और शीघ्र ही मुरझाकर चू भी पड़ते, किन्तु ऋतुएँ बीतती जा रही थीं।

यद्यपि कानन अपने शील-स्वभाव और सुन्दर रहन-सहन के कारण सास-ससुर के हृदय में गड़-सी गई थी और कानन भी इसे अपना सौभाग्य समझती थी, लेकिन पति के ही मौन व्यापारों और गंभीर मुद्राओं से वह चिंतित रहने लगी। महीना भर के अन्दर ही उसने यह भली भाँति अनुभव कर लिया था कि "हमारे बीच कोई दीवार है जो हमारे नित्य-एकान्त-मिलन में बाधा स्वरूप खड़ी हो जाती है।" किन्तु अपनी इन शंकाओं को वह पति के समक्ष व्यक्त करे तो किस आधार पर।

उसकी उदासी के ही कारण उसकी सास उसे कभी-कभी डाँटने भी लगी। वह चाहती थी कि उसकी बहू सतत फूल की भाँति मुस्कुराती रहे,—क्या दुःख है उसे जो इस तरह मन मारे रहती है।

किन्तु कानन को सास की इन डाँट और फटकारों का कोई असर नहीं होता। वह सोचती—बड़े-बूढ़ों की तो यह आदत ही होती है।

उसके ससुर कर्नल साहब भी उसे खूब चाहते थे। उनका नाम था हिम्मत सिंह। कभी अंग्रेजी फौज का वह कर्नल रह चुके थे। प्रथम महायुद्ध में उन्होंने सरकार की सेवा जी खोलकर की थी और युद्ध समाप्त होते ही सरकार से उन्हें एक छोटी-सी रियासत मिली। फिर आँख की रोशनी कम हो

जाने पर वह रिटायर्ड हो गये। अभी भी पेंशन मिल रही थी उन्हें। फिर भी वह इतने खर्चीले रहे कि जीवन के अन्तिम समय में केवल एक मामूली रईस ही रह गये।

प्रारम्भ से ही कर्नल साहब की यह प्रवल आकांक्षा रही कि अजीत पढ़-लिख कर कोई जज-बैरिस्टर बने।

और जब उसने बी० ए० की परीक्षा बड़ी सफलता पूर्वक पास की तो कर्नल साहब की वे सारी रंनीन कल्पनाएँ नाच उठीं। उसकी पढ़ाई में वह काफी खर्च कर रहे थे, अतः अजीत का रहन- सहन असाधारण था। इसके अतिरिक्त उसके रूप-गुण और सुन्दर चरित्र पर भी वह मुग्ध थे। अजीत पढ़ने में असाधारण था। प्राइमरी से लेकर कालेज की ऊँची-ऊँची कक्षाओं तक वह प्रथम हो आता रहा। हँसमुख स्वभाव का हव गोरा युवक चेहरे पर चपल हास्य की रेखा लिये सतत मुस्कुराता ही रहता था।

उस समय कर्नल साहब की उम्र पचास से ऊपर हो रही थी। सफल जीवन के तीसरे प्रहरमें सुख और शान्ति की साँसें ले रहे थे। सुख के सभी साधन उनके पास उपस्थित थे। एक बढ़िया घोड़ा था, दरवाजे पर फिटन लगी रहती थी, नौकर थे, चाकर थे। शिकार खेलने का उन्हें बड़ा शौक था। रोज सन्ध्या के समय अपनी बन्दूक लेकर शिकार के लिये निकल पड़ते थे। उन्हें शेरों का तो शिकार नहीं मिलता था लेकिन हाँ, गाँव के बगीचों से दो--चार निरीह पक्षियों को ही मार लाते थे। कानन को ससुर के लाये हुये उन शिकारों को बनाने में

बड़ा आनन्द मिलता था। वह उन्हें किसी देवता से कम नहीं समझती थी। जब देखो तब बालकों की भाँति सर्वदा प्रफुल्ल रहते थे। अतः निष्कपट हृदय का वह सरल व्यक्ति उसे अपने पिता की ही भाँति प्रिय लगता था।

कानन का सहयोग पाकर शिकार में कर्नल साहब की अभिरुचि दिन-दिन बढ़ने लगी थी। इस विषय में कई दिन पत्नी से उनकी बहस भी हो गई थी। उसका कहना था—"नित्य इतने जीवों की हत्या कर नाहक सिरपर पाप लिया जा रहा है, और इस पाप के लिये सोलहों आने कानन ही जिम्मेवार है— क्योंकि इसीकी शह पाकर इनका मन इतना अधिक बढ़ा जा रहा है।"

भंग पीने की आदत भी उनकी कानन के द्वारा ही बढ़ी। एकबार कानन ने बनाया तो भंग इतना सुन्दर तैयार हुआ कि वैसा ही वह रोज-रोज चाहने लगे। उनकी समझ में कानन के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति वैसा भंग घोंट नहीं सकता था। नैहर में कानन वकील साहब के लिये प्रायः भंग बनाया करती थी अतः उत्तम तरीके से भंग बनाने की कला में वह निपुण थी।

कानन की सास ने कई बार इसके लिये उसे डांटा भी। वह चाहती थी कि कर्नल साहब जब भंग का हुकुम फरमायें तो कानन कोई न कोई बहाना कर दिया करे। एक-दो दिन ऐसा करने से ही उनकी आदत छूट जायगी।

लेकिन कानन ऐसा कैसे करती? जो व्यक्ति उसे जी-जान

से चाहता था, सर्वदा तलहथी पर ही उठाये रखना चाहता था–भला उसी व्यक्ति के साथ वह इतनी अशिष्टता कैसे करती ?

लेकिन कानन की सास इसके लिये सारा दोषी कानन को ही ठहराती थी। कई दिन उसने मना भी किया किन्तु सास की आँखें बचाकर कानन भंग बना ही देती थी।

और जब सास को मालूम हो जाता था तो वह कानन पर उबल पड़ती थी। उसपर अवज्ञा और षड़यन्त्र का अपराध लगाया जाता था।

किन्तु कर्नल साहब पत्नी को देखकर जब मुस्कुरा उठते तो वह और भी जल-भुन जाती थी।

कानन के लिये एक विचित्र समस्या थी कि सास-ससुर दोनों को वह एकसाथ किस भाँति प्रसन्न रखे !

कर्नल साहब ढलते सूरज में ठण्डई का एक गिलास चढ़ाकर अद्धी के चुननदार कुरते में अपनी वह पुरानी बन्दूक लेकर जब ताँगे पर सवार होकर घूमने निकल पड़ते तो अजीत की माँ चिढ़कर बोलतीं—"बस, चले नवाब साहब कमाई पर ! देखो न दो-चार जानवरों को मार लायेंगे। अपने भी खायेंगे और दो-चार यार-दोस्तों को भी खिलायेंगे।

पैसा फूँकने में कुछ दर्द तो इन्हें होता नहीं ! सोचते हैं—अन्तिम समय आ गया; क्यों न सारा धन फूँक जाऊँ ?—जायँ बेटा-बेटी चूल्हे और भाँड़ में।—लोग तो ऐसे होते हैं कि जबतक पास में पैसा रहा—हाँ में हाँ मिलाकर झूठी तरीफों के पुल बाँधकर खाते रहते हैं,—और आज हाथ खाली हो जाय तो

कल यही लोग हँसी उड़ायेंगे,—मूर्ख बनायेंगे।

मैं चिल्लाते-चिल्लाते हार गई लेकिन कौन सुनता है मेरी ! ऊँह, और इस मालकिन की शह पाकर तो दिन-दिन और भी शाहखर्च होते जा रहे हैं। मालूम नहीं कि कितना बड़ा कुबेर का भण्डार है इनके पास।"

कानन सास की इन बातों पर केवल हँसकर रह जाती थी। वह समझती थी कि कर्नल साहब उसकी सास की बातों में नहीं रहते हैं इसीलिये यह उनपर इतनी चिढ़ी रहती हैं।

किन्तु उसकी सासने जब देखा कि कानन उसकी केवल अवज्ञा ही नहीं करती; बल्कि ससुर के द्वारा दो-चार बातें भी सुनवा देती है, तो धीरे-धीरे वह उससे ईर्षा करने लगी।

मानव का दुर्बल मन अपनी असफलता पर खीझ कर दूसरे हँसनेवालों से सहज ही में जलन रखने लगता है।

(४)

कला की माँ के अनेक बिरोध करने पर भी मुख्तार साहब कलाका व्याह त्रिवेणीके संगही करनेका निश्चय-सा कर चुके थे, किन्तु जब त्रिवेणी ने एकाएक ही संन्यास ग्रहण कर लिया तो उन्हें भारी निराशा हुई। कला काफी सयानी हो चुकी थी। इस वर्ष उसका व्याह करना अति अनिवार्य था। दिन शेष हो रहे थे। मुख्तार साहब वर ढूँढते-ढूँढ़ते हार गये लेकिन कला

की जोड़ का कोई सुयोग्य पात्र उन्हें मिला ही नहीं। अन्त में कला का व्याह एक ऐसे युवक के संग हुआ जो गाँव के एक धनी किसान का लड़का था। उसका नाम था वसंत। शहर में ही पढ़ता था वह। उसका पढ़ना तो केवल एक वहाना था। उसके धनी माँ-बाप को यह बड़ा हौसला था कि और 'लड़कों की भाँति वह भी काफी पढ़े-लिखे ताकि उसके व्याह में वे अच्छा मोल-भाव कर सकें और किसी खानदानी घर में बढ़िया तिलक गिनाकर समाज में सिर काफी ऊँचा उठा सकें। लेकिन हाय! उनका हौसला हौसला ही रह गया।

व्याह होने के वाद ही वसंत ने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया। माँ-बाप के लाख कहने पर भी वह मैट्रिक की परीक्षा में बैठा नहीं;—फेल होने से बदनामी का डर था।

ऐसा पति पाकर कला को अपनी सारी रंगीन कल्पनाओं और उन मधुर सपनोंका गला घोंट देना पड़ा। वह शुष्कहो गई। अपने वैवाहिक जीवन से उसे कोई विशेष अभिरुचि नहीं रही। वह केवल इतना ही जानती थी—"कि मुझे बोझ ढोना है—चाहे मन से ढोऊँ या बेमन।"

पढ़ाई छोड़ने के वाद वसंत घरका ही काम-काज देखने लगा। कला भी साल भर के बाद ससुराल चली गई। ससुराल के उस असभ्य वातावरण में कला को महसूस हुआ जैसे एक गगन-विहारी पक्षी पींजड़े में वन्द कर दिया गया हो! उसका दम घुटने लगा। किन्तु जात की ठहरी वह कन्या—जिसे विवाह के बाद आजीवन ससुरार में ही रहना पड़ता है—सुखी

चाहे दुखी।

शहर के वातावरण में पली वह लड़की उस देहाती वातावरण में भाँति-भाँति के अभाव अनुभव करती। जिधर देखो उधर गन्दे कपड़ों की ढेर। रहन-सहन मोटा, न साबुन-तेल का ठिकाना, न नाऊ-धोबी की कोई सुन्दर व्यवस्था। और सबसे अधिक बुरा लगता था उसे मिनट-मिनट पर उनलोगों का बीड़ी और हुक्के का भकाभक धूआँ फेंकना। स्त्री-पुरुष, युवक-युवति, बूढ़े-बच्चे प्रायः सभी उस गन्दी आदत के शिकार थे। जिधर देखो बीड़ी ही बीड़ी, तम्बाकू ही तम्बाकू! कला का मन भिन-भिना उठता था। किन्तु वहाँवाले इसे परम्परा और रिवाज समझते थे। कला की दृष्टि में देहात वाले केवल गदहे की भाँति खटना ही जानते थे। धन का उचित उपयोग अथवा जीवन का सच्चा सुख-मौज वे नहीं जानते थे।

औरतें भी वैसी ही थीं। धनी घर की बहू-बेटियों का अलंकार केवल चाँदी के ढाई-ढाई सेर के कड़े और तीन-तीन सेर की हसुलियाँ अथवा ऐसी ही एकाध चीजें हुआ करती थीं। वहाँ की औरतों को गहने और कपड़े पहनने का भी उचित ज्ञान नहीं था। हर वस्तु में उसे अभाव ही अभाव दिखाई पड़ता। वह खिन्न रहने लगी। कभी सोचती—"ऐसे देहात में मेरा व्याह कर मेरे माँ-बाबूजी ने मुझपर भारी अन्याय किया है"—किन्तु फिर भी वह मजबूर होकर दिन गुजार रही थी। उसके अन्दर एक विद्रोह की भावना सुलगती जा रही थी।

ऐसे ही भावों से प्रेरित होकर वह सोचती—"यदि ईश्वर की असीम कृपा से मुझे एक पुत्र-रत्न मिल जाय तो इन देहाती कुरीतियों से उसे दूर रखकर अपने मनोनुकूल एक पढ़ा-लिखा गुणवान व्यक्ति बनाऊँ,—जिससे इस धनी परिवार की अशिक्षा और असभ्यता में आमूल परिवर्त्तन हो सके।"—और तब वह मन ही मन एक महान गौरव का अनुभव करने लगती थी। अपनी मधुर कल्पना में लीन थी वह।

वसंत में चाहे कितने ही अवगुण क्यों न हों किन्तु एक पैसा से चार पैसे बनाना तथा बनाये हुए पैसों को सम्भाल कर रखने की कला में वह प्रवीण था। कभी-कभी कला उसे दमड़ी लाल कहकर चिढ़ाती थी। कला को बचपन से ही बीड़ी-तम्बाकू से शख्त घृणा थी। मुख्तार साहब को यह अरमान ही रह गया होगा कि कला से कभी हुक्का उठा लाने को कहते।

और वैसी लड़की का एक बीड़ी-पिया पति से पाला पड़ा। विचित्र है विधाता का यह भी विधान!

पति की यह बुरी आदत छुड़ाने की कला ने लाख कोशिशें कीं,—शपथ धराई किन्तु परिणाम कुछ न निकला। वसंत पुरुष था—पुरुष तो स्वतन्त्र हैं,—तब भला वह अपने स्त्री की बात माने ही क्यों? उसकी स्त्री की यह मजाल कि उसपर शासन करे!—इसे वह अपने पौरुषका अपमान समझता था।

इस सम्बन्ध में अनेक बार कला को पति की ताड़ना भी मिल चुकी थी। अन्त में हारकर बैठ गई वह। किन्तु उसके हृदय में विद्रोह का एक तूफान छिपा हुआ था जिसे कला

बड़ी कुशलता से दबाये ही रखना चाहती थी। उसका वह विद्रोही 'अहं' अपना अधिकार ढूँढ़ना चाहता था। किन्तु आह ! असभ्य पुरुषों के मनमाने राज्य में किसी नारी को अधिकार कहाँ ? ऐसे राज्य में निष्ठुर शासक विद्रोह का तनिक भी आभास पाकर विद्रोहियों का सिर कुचल देता है।

उन्हीं विद्रोह की घड़ियों में जब उसके मानस-पट से अतीत की वे मधुर स्मृतियाँ टकरातीं तो अनायास ही उन दो मद-भरे नैंनोंके आगे त्रिवेणी का वह दिव्य रूप, ओजस्वी ललाट और स्नेह-सिंचित सौम्य प्रतिबिम्ब थिरक उठता था। उन क्षणों में कला तब चञ्चल हो उठती थी। किन्तु कैदी का मन चाहे भले ही स्वतन्त्र हो जाय; पर उसका पार्थिव शरीर शृँखला-बद्ध ही रहेगा !

कला के रूखे व्यवहारों से उसके ससुरारवाले उसे मगरूर औरत कहा करते थे और इसीलिये जब-तब उसे पति के लात और मुक्के भी खाने पड़ते थे।

और कला इसे पुरुषों का अत्याचार कह कर विद्रोह की आग छिपाये भीतर ही भीतर सुलग रही थी।

कला को एक ननद थी। अपने धनी माँ-बाप की एक-लौती बेटी, जो सर्वदा स्नेह और चुम्बन के बीच ही पली थी। कई भाइयों पर वह अकेली बहन थी। गाँव के वातावरण में पली वह 'सभ्य समाज' की लड़कियों से बहुत ही पिछड़ी, बरसाती लता की ही भाँति कोमल, श्यामल और अल्हड़, किसी पेड़ का सहारा लेने के लिये उसकी भुजाओं की ओर बढ़ी जा

रही थी। बात-बात पर भाभियों से उलझ पड़ना, माँ से रूठ जाना, हँसते बच्चों को रुलाना और रोते बच्चों को हँसा देना तथा बाबूजी के लिये हुक्का भरकर ले जाते समय एकाध दम खींच लेना ही अपना मनोविनोद समझती थी।

और माँ केवल यह सोचकर कि "कुछ ही दिनों के लिये ये शरारत और हैं फिर तो हमींलोगों की भाँति इसे भी जीवन की चक्की में पिस जाना पड़ेगा"—देखकर भी मुस्कुरा देती थी।

किन्तु उसे देखकर कला को दुःख होता था। वह सोचती थी—"कहीं इसका ब्याह पढ़े-लिखे शहरी लड़के से हो गया तो कैसे निभेगा दोनों का ? न यह सीना-पीरोना जानती है, न कुछ लिखना-पढ़ना ही। आज-कल तो सभ्य समाज में गरीब से गरीब घर की अदना लड़की भी कुछ लिखना-पढ़ना सीख लेती है ताकि अपने परदेसी को पत्र तक तो भेज सके ! लेकिन यह इतनी बड़ी हो गई और इसे पहनने-ओढ़ने का भी शऊर नहीं हुआ। किसीके कहनेका भी इसपरकोई असर नहीं पड़ता। सयानी हो चुकी है, अब दो-चार महीने में किसी के घर जायगी लेकिन अभी तक यह अपने को बच्ची ही समझती है। शृँगार और शरीर का तो कुछ ध्यान ही नहीं रखती—और न इसकी कोई आवश्यकता ही समझती है !

और इसके माँ-बाप हैं—जो तोड़े का मुँह खोलकर ही एक कालेजिया जमाई खरीद लाना चाहते हैं। यदि यह लड़की विवाह होते तक भी नहीं संभली तो पति की नजरोंसे सर्वदा के लियेगिर पड़ेगी,—सब दिन घुड़कनें ही सुनती रहेगी,—घृणा और

तिरष्कार पाकर जीवन भर सिसकती ही रह जायगी या स्वयं बेचारे दुलहे को ही अपने माथे में चोट देकर मौन हो जाना पड़ेगा। आह! अनमेल विवाह पति-पत्नी के जीवन को क्या मिट्टी में नहीं मिला देता ?—मेरी भी तो शादी हुई थी; क्या सुख मिला है आज तक मुझे? 'उनके' मुँह से एक मीठी बोली के लिये भी सब दिन से तरसती आ रही हूँ। बस, जो वह चाहें मशीन की भाँति मैं करती जाऊँ,—उनकी आज्ञा को निर्विरोध, निःसंकोच ढोती जाऊँ! दिन भर बैल की तरह खटने के बाद तीसरे पहर में कुछ खा सकूँ, बस, इतना ही मेरे जीवन का स्वाद है! मैं किसी की बातों में दखल नहीं दे सकती, मेरा कोई अधिकार भी अपना नहीं। खाती हूँ तो किसी की खुशी पर; जीती हूँ तो किसी की मर्जी पर।

दामपत्य का वह प्रेम जिसकी धारा कुटिये में भी प्रवाहित होकर स्वर्ग का सृजन करती है; मुझे इन ऊँची अट्टालिकाओं में भी नसीब नहीं। नसीब है तो केवल गाली और बोल। बच्चे पैदा करना और गदहे-घोड़े की भाँति खटकर पेट का एक कोना भर लेना—बस, अधिकार है मुझे तो केवल इतना ही।

लोग कहते हैं कि मैं सुखी हूँ, सौभाग्यशालिनी हूँ; हाँ, कुछ अंशों में हूँ भी। मेरी माँग का सुहाग लहलहा रहा है, मेरी गोद किलकारियों से भरी है,—किन्तु नादान मन को मैं कैसे समझाऊँ जो अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेने के बाद अधिकार माँगने में भी नहीं चूकता, स्वच्छन्द गगन-विहारी पक्षी के एक दंपति की भाँति जीवन-डाल की एक ही टहनी पर बैठकर

प्रेमालाप करना चाहता है,—उनसे एक मधुर संभाषण के लिए सतत तरसता रहता है, मचलता रहता है—उसे कैसे समझाऊँ मैं ? आह ! मैं अपने आप को ढूँढ़ सकूँ; ऐसा मुझे सौभाग्य ही प्राप्त कहाँ ?

मेरा नाम कला है—कितना सुन्दर और मधुर नाम है मेरा ? किन्तु मुझसे कोई पूछे तो मैं बताऊँ कि मेरे जीवन में कितनी कला और कितना रस है। नदी की धारा सूख जाने पर भी यदि उसे नदी ही कहें तो यह कैसी मूर्खता है !

कला की ननद का नाम था लता। लता ?—

बरसात की वह वेलि जो जल का सहज सिंचन पाकर दिन दूनी रात चौगुनी होती जाती है, इठलाती है—इतराती है। पवन की लहरों को अपनी कोमल-कोमल भुजाओं में समेटकर मस्ती में झूमती है। और वही—जल के अभाव में सूखकर क्षण में ही जमीन पर लोटने भी लगती है।

यौवन की उद्दाम तरंगों में झूमने वाली लता भी ठीक एक वैसी ही लता थी। धनी माँ-बाप की दुलारी बेटी उनका मन-चाहा प्यार पाकर छलक रही थी, अनजाने ही एक नये संसार में प्रविष्ट हो रही थी। अबतक उसने अपनी माँ से जो कुछ भी सीखा था वह यह कि लड़की जब सयानी हो जाती है तो दुलहे के संग डोली में चढ़कर ससुरार चली जाती है, व्याह में उसे बहुत से अच्छे-अच्छे गहने और कपड़े मिलते हैं, ससुरार में उसे घूँघट के अन्दर रहना पड़ता है और सास-ससुर की सेवा भी करनी पड़ती है—बस इतना ही।

जिस बेटी को सारा बचपन प्यार ही प्यार मिला हो, भविष्य में भी सबसे वह प्यार की ही आशा रखती है, प्यार पाना अपना अधिकार समझती है।

फिर लता तो अपने मन में यह सोचे बैठी थी कि उसके खरीदे हुए दुलहे को तो उसे प्यार करना ही पड़ेगा क्योंकि धनी माँ-बाप की वह बेटी जो है! उसके माँ-बाप इतने पैसे खोलेंगे और उसे प्यार भी न मिले?

ऐसी भावनाओं में पली केवल एक कोमल लता ही रह गई थी वह, जिसके अस्तित्व का कोई ठोस आधार नहीं रहता।

कला से उसकी पटती नहीं थी। कला भी उसे फूहड़ और असभ्य समझकर मन ही मन उसकी उपेक्षा किया करती थी। अनेक बार कुछ पढ़ने-लिखने की उसे सलाह दी। आग्रह करके कई बार तो स्लेट-पेंसिल लेकर पढ़ने के लिये उसको बैठाया भी किन्तु वर्णमाला के प्रथम अक्षरों पर दो-चार हाथ फेरकर ही भाग खड़ी हुई। उसकी मोटी बुद्धि में केवल एक ही बात जमकर बैठ गई थी कि औरत पढ़-लिखकर क्या करेगी? कलम-किताब के संग उसका कितना निभेगा? उसे तो सीखना चाहिये चूल्हा फूँकना, चक्की चलाना और डौवा घाँटना। पढ़ते तो हैं मर्दलोग जिन्हें परदेस जाना पड़ता है, कुर्सी तोड़नी पड़ती है।

किन्तु जब कला ने उसे बहुत तंग किया तो वह झुँझलाकर बोल उठी—बूढ़ा सुग्गा भी कहीं पोस मानता है!

और कला तब उसके इस फूहड़ तर्क पर निरुत्तर हो गई थी। उसे लता का भावी जीवन पूर्ण अंधकारमय जान पड़ा। लता से उसे जितनी सहानुभूति नहीं थी उससे अधिक एक आनेवाले नये ननदोई के दुर्भाग्य की चिन्ता थी उसे। वह प्रायः सोचा करती—"आह ! एक पढ़े-लिखे युवक को लता जैसी गँवार और असभ्य पत्नी पाकर हृदय की उन समस्त नवीन आशाओं और रंगीन कल्पनाओं का गला घोंट देना पड़ेगा—जीवन भर अपने भाग्यपर आँसू बहाते रह जाना पड़ेगा। और आवेश में आकर कहीं कुछ अनुचित ही कर बैठा तो लता का जीवन फिर नष्ट ही हो जायगा। धनी माँ-बाप के लिये एक पढ़ा-लिखा जमाई खरीद लाना कोई बड़ी बात नहीं ! आह ! व्यक्ति धन से सुख को खरीदकर गरीबों का भी सुख-चैन लूट लेता है। मेरे माँ-बाप भी कभी कहा करते थे—हमारी बेटी चाँद-सी सुन्दरी है,—अहा, इसकी जोड़ी भी किसी चाँद से ही लगती ?—लेकिन मुझे कैसा चाँद मिला देख लिया।"

और लता की जब बारात आई, दुलहे को देखकर कला चौंक उठी। उसकी आँखों में चकाचौंध छा गया। जैसे दुलहे की उसने कल्पना की थी ठीक वैसा ही दुलहा आया भी। चार हजार की थैली फेंककर बी० ए० का एक सुन्दर युवक उठाकर ले आया गया था। लता की माँ जमाई को निहाल हो उठी, भाई-बाप अपनी सफलता और पर फूले नहीं समाये। उन्हें गर्व था कि वैसा जमाई

आज तक गाँव में कोई और नहीं लाया था।

और लता ने जब सुना—उसका दुलहा देखने में बड़ा सुन्दर है और बहुत पढ़ा-लिखा भी है तो मारे खुशी के उसका अंग-प्रत्यंग फूल उठा। पालकी जब दरवाजे पर लगी तो 'परिछन' के लिये औरतों की भीड़ उमड़ पड़ी। सभी औरतों के मुँह पर केवल एक ही वाक्य था—"गाँव भर में जमाई लाया कोई तो सन्तू ; वाह, वाह !"

किन्तु बेचारा दुलहा उन ग्रामीण स्त्रियों के मोटे पहनावे, गन्दे कपड़े और फूहड़ मजाक से ऊब उठा। उसकी इस ससुरार और कल्पना की ससुरार में जमीन-आसमान का अन्तर था। उसमें नारी का सौंदर्य, मोहक शृंगार, वैभव का आलोक और मीठी मुस्कानें थीं; और इसमें था—काले-कलूटे चेहरे, अव्यवस्थित सौंदर्य और सस्ता शृंगार।

गँवार स्त्रियों का वह समूह जैसे ही उसकी ओर बढ़ा उसका मन घृणा से भर उठा। किसीने उसके कान पकड़े, किसीने नाकें हिलाईं, और कोई बोल पड़ी—"पाहुन की माँ 'अंजोरिया' के पास गई थीं।"

किन्तु बेचारा दुलहा ही मौन था। वह सोच रहा था—"ऐसी ही लड़कियों में से मेरी भी श्रीमतीजी एक होंगी न ?"—और इसी भाव से उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया। "जीवन के सौदे में इतना बड़ा घाटा ?" निराशा के कठोर धक्के खाकर उसका हृदय बैठ गया।

किन्तु, जब लड़कियाँ दुलहे को बहुत तंग करने लगीं तो आगे बढ़कर कला ने उन्हें डाँटा। गैस-बत्ती के तीव्र प्रकाश में कला का सौंदर्य शीशे पर पड़े प्रकाश की भाँति चमक उठा। दुलहा मन में ही बोल उठा—"अच्छा, तो सेंवार में भी कमल हैं?"

दुलहे का नाम था किशोर। किशोर हृदय में अनेक आशा और उमंगें लेकर पालकी पर चढ़ा था किन्तु ससुराल के वातावरण की वास्तविकता से उसकी समस्त आशायें कुंठित हो गईं। फिर कब विवाह हुआ, हाथों में किसीके हाथ लेकर पुरोहितजी के द्वारा बोले हुए किन-किन शब्दों को उसने दुहराया,—ससुर ने क्या कहा, सासने 'खीर-खिलाई' में कौन-कौन-सी चीजें देने का वादा किया तथा साली और सरहजों ने क्या-क्या मजाक किये—उसे कुछ भी याद न रहा। कुछ याद था तो केवल कला के सहानुभूति के वे मधुर शब्द, उसका वह चाँद-सा मुखड़ा और उसकी निर्मल मुस्कानें। किशोर सतत मौन और उदास रहने लगा।

हृदय के तार जब टूट जाते हैं उससे तब संगीत नहीं झर सकते।

कानों-कानों में अफवाह फैल गई—"दुलहे को दुलहिन पसंद नहीं है।" सम्पूर्ण घर में एक मौन आतंक छा गया। किसी का साहस नहीं होता था कि जमाई बाबू से कुछ पूछें।

और पूछा भी क्या जाता?—उसने किसी से यह तो

कहा नहीं था कि उसे दुलहिन पसंद नहीं है ! हाँ, उसके फूल-से चेहरे को विरक्ति और विषाद की मोटी रेखाओं ने धूल बनकर ढँक भले ही दिया था। उसका उदास चेहरा देखकर ही लोगों ने यह अनुमान लगा लिया था कि जमाई बाबू मनोनुकूल लड़की न पाकर दुखी हैं।

घरकी सारी स्त्रियाँ सतत इस प्रयास में रहने लगीं कि दुल्हे का ध्यान दुलहिन की ओर आकर्षित हो। पति-पत्नी के मधुर संभाषण के लिये अनेक मौके भी दिये गये। साली-सरहजें प्रायः उसके अच्छे मनोविनोद की सामग्रियाँ जुटाया करतीं। किन्तु किशोर पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। एक अबोध बालक की भाँति सारी बातें देखते-सुनते हुए भी वह बेसुध था।

मानव का हृदय जब भावमय रहता है—संसार की सभी वस्तुएँ उसे प्रफुल्ल और रंगीन प्रतीत होती हैं; किन्तु वही जब अभावों के सागर में डूबता हुआ रोता-चिल्लाता है तब संसार भी उसे रोता-चिल्लाता ही नजर आता है। आँसू के सिवा उसे और कुछ नहीं दिखाई पड़ता।

लता को जैसे ही पति के इन भावों का आभास मिला वह मन ही मन चिढ़ उठी। वह सोचने लगी—"मेरे माँ-बाबूजी ने तो कभी ऐसा नहीं कहा कि हमारी बेटी सुन्दर नहीं है ! फिर उनका खरीदा हुआ यह व्यक्ति ही उनकी बेटी के यौवन और सौंदर्य की उपेक्षा क्यों करने लगा ?"—किन्तु इसका

उत्तर उसे कौन देता ?

कहीं से कोई उत्तर न पाकर लोगों की आँखें बचाकर तब एकान्त में जाकर कहीं रो लेती थी वह। कला को जिस बात की आशंका थी अन्त में वह सच ही निकली। सारा बना-बनाया खेल उसे बिगड़ता-सा जान पड़ा।

उसने देखा—जितनी लड़कियाँ आती थीं, हँसी-मजाक़ करती थीं किन्तु उत्तर में किशोर के मुँह से कोई शब्द न पाकर सारी की सारी निराश होकर लौट जाती थीं और किशोर था कि उनके प्रश्नों का उत्तर देना कोई आवश्यक ही नहीं समझता था बल्कि खोया-खोया-सा उदास होकर शून्य आकाश की ओर ताकने लगता था। किन्तु उसके सामने जब कला जाती थी उसके अधरों पर मुस्कान की रेखा तब कहीं से अनायास ही आकर थिरकने लगती थी। कला अपने मनमें तब सोचने लगती—"तो क्या सारी ससुराल भर में केवल मैं ही एक भाती हूँ उनको ? मेरा रूप और स्वभाव क्या सचमुच ही उनके मनोनुकूल है ?—हाय रे भाग्य ! भला वर को भली कन्या नहीं; और भली कन्या को भला वर नहीं।"

लता का भविष्य उसे पूर्ण अंधकारमय जान पड़ा। वह हृदय से लताको चाहती थी किन्तु यदि चिढ़ थी उसे तो केवल उसकी नासमझी और लापरवाही पर। कला की समझ में यदि लता पति के प्यार से वंचित भी हो जाती तो यह अपराध लता का ही होता। वह सोचती—एक शिक्षित युवक के जीवन

में प्रवेश करने के पहले ही उसके जीवन को अनेक रंगों से भर देने की तैयारी इस गंवार लड़की ने पहले से ही क्यों न की थी? और आज अपनी हार पर आँसू बहाती है? मूर्ख लड़की!

बने को बिगाड़ना तो सभी जानते हैं, बिगड़े खेल को बनाया जाय उसीमें न चतुराई है!

उस दिन शाम को जब कला किशोर को जलपान करा रही थी तो उसने पूछा—"क्यों किशोर बाबू, दुलहिन से मुलाकात हुई कि नहीं?"

"यह तो आप उसीसे पूछ लेतीं।"—किशोर ने उदास भाव से उत्तर दिया।

"लेकिन वह तो आप भी बता सकते हैं?"- कला ने पैतरा बदलकर दूसरा प्रश्न किया।

किशोर ने लापरवाही से उत्तर दिया—"मुझे मालूम नहीं कि मेरे पास कौन आई और कब आई।"

"और कल रात में जो हमलोगों ने ढकेलकर आपके कमरे में भेजा था उसे? कल तो आपलोगों की सुहाग-रात्रि थी न? 'मुँह-बजाई' में आपने क्या दिया, क्या-क्या बातें हुईं दोनों में—जरा हमें भी तो सुनाइये!"—कलाने विनोदपूर्ण जिज्ञासा की।

"मुझे तो मालूम नहीं कि रात में वह कब मेरे पास आई और फिर चली भी गई। किन्तु हाँ, भोर पहर में एकबार घबड़ाई हुई-सी वह आई थी और पूछा था—मेरी छाड़ा तो

यहाँ नहीं छूट गई है ? शायद उसकी छाड़ा कहीं खो गई थी, वही ढूँढ़ने के लिये आई होगी।"

"किन्तु आपने क्या जवाब दिया ?"

"कोने में लैम्प जल रहा था। बत्ती तेजकर इधर-उधर ढूँढ़ा; और जब नहीं मिली तो उससे कह दिया—वहीं कहीं देखो—यहाँ नहीं गिरी है।"

"उस वक्त भी आपने नहीं देखा ?"

"मुझे तो इसकी याद ही न रही !"

"और 'मुँह-बजाई' में कुछ नहीं दिया आपने ?"

"अरे हाँ, आते वक्त माँ ने मुझे कुछ रुपये दिये थे और बोली थी—जब दुलहिन तुमसे बोले तो ये रुपये 'मुँह-बजाई' में उसे दे देना, किन्तु मैं तो यह भूल ही गया था !—लीजिये ये रुपये उसीके हैं, दे दीजियेगा।"—और माँ के द्वारा दिये हुए सारे रुपये उसने कला को थमा देना चाहा।

कला को लता और किशोर में बातें कराने का यह सुन्दर मौका मिला। वह झट बोल उठी—"आप तो बुद्धू हैं, सारी रात बेचारी छटपटाती रह गई और आप थे कि घोड़ा बेचकर सोये थे। क्या करती बेचारी, जब भोर हो गया तो निराश होकर लौट गई।"

"अरे, तो उसने मुझे जगाया क्यों नहीं ? अजब बुद्धू हूँ मैं भी !"

"इसमें भी संदेह है ?"—और दोनों के मोहक अट्टहास से कमरा गूँज उठा। आज यह पहली ही घड़ी थी जब किशोर

कला के संग इस भाँति प्रसन्न मुद्रा में दीख पड़ा।

कला पुनः मुस्कुराकर बोली—"खैर अभी कुछ बिगड़ा नहीं है,—श्रीमतीजी को आपके पास भेजे देती हूँ—ये रुपये उसीको थमा दीजियेगा। और देखिये—रुपये किसीको मुफ्त ही नहीं दिये जाते!"—और किशोर के अनेक मना करने पर भी उसने माना नहीं और लता को जबर्दस्ती कमरे में ढकेलकर हँसती हुई वह भाग गई और मजाक में अपनी सास से कहने लगी—यह जंगली जमाई आप कहाँ से उठा लाई हैं माँ? यह तो घूँघट देखकर ही भड़कता है। आज साले को मजबूत रस्सी से खूँटे में बाँधूँगी।

और कई दिनों की बदली के बाद आज लता की माँ को लगा जैसे उसकी छत के मुड़ेरे पर पूर्णिमा का चाँद उग आया हो। आँगन के तमाम ऊधमी बच्चों को बटोरती हुई एकाध बड़ी-बूढ़ियों के साथ दूसरे आँगन में चली गई। कला तबतक दीप जलाकर घरों में साँझ देने लगी।

(५)

मंदिर में मिट्ठू ही रसोई बनाता था। एक दिन जब रात में वह त्रिवेणी को भोजन करा रहा था तो बोला—बेनी बाबू, कल गाँव में जो वह बारात आई है—उसमें बनारस की एक मशहूर बाई भी आई है। देखने से तो कोई मुसल-

मान की तरह जान पड़ती है लेकिन गाती है कमाल ! महफिल में जब वह गा रही थी, सारे लोग आनन्द-विभोर हो उठे थे। उसने क्या-क्या गाया यह तो मैं समझ न सका लेकिन एक पंडितजी की फर्माइश पर उसने जो वह भजन गाया था—बड़ा ही मधुर लगा। मैं तो झूम उठा था बाबू ! गाया भी था बड़े प्रेम से। मुझे तो ऐसी आशा नहीं थी बाबू कि एक बाई और वेश्या भी इतना अच्छा भजन गा सकती है ! एक बात कहूँ बाबू ..., इस वर्ष के झूलन में भजन गाने के लिये यदि वह मंदिर में बुलाली जाय......

त्रिवेणी मिट्ठू के भोलेपन पर मुस्कुरा उठा। उसने कहा—दादा, वेश्या के हृदय में भजन-पूजन और भक्ति के भाव नहीं रहते क्या ?

"अरे बाबू, वेश्या तो आखिर वेश्या ही है ! पैसों पर जान देनेवाली जहर की पुड़िया भला धर्म और कर्म क्या जाने !"

"यहीं तो तुम भूल कर रहे हो दादा ! यदि किसी व्यक्ति के अन्दर परिस्थिति विशेष में पड़कर कुछ बुराई आ ही गई तो उत्साह और सहारा देकर ही उसे तुम मुक्त कर सकते हो। बुरे को बुरा कह देना उसकी बुराई की जड़ को और भी मजबूत कर देना है। अपराधी के अपराधों की व्याख्या जबतक मधुर और क्षमायुक्त शब्दों में नहीं होगी अपराधी अपना अपराध स्वीकार करेगा ही नहीं।

और फिर ऐसी बात क्या है ? वेश्याएँ भी तो तुम्हारी

ही तरह अपने भगवान को पूजती हैं। उनका भी एक समाज है, उनका भी एक धर्म है। तुम जिसे ठुकराते हो—दुत्कारते हो—वही तुमसे दूर भागता है, तुम्हें शंका की दृष्टि से देखता है, और तुम समझते हो कि वह तुमसे सर्वथा भिन्न है। यदि तुम हृदय की आँखें खोलकर देखो तो दुनिया में कोई भी बुरा नहीं है। अच्छा और बुरा तो हम स्वयं ही बना लेते हैं। मनुष्य की बातें जाने दो—एक पशु का ही उदाहरण ले लो—किसी गाय, बैल या कुत्ते को तुम छड़ी दिखाओ तो वह तुमसे दूर भागेगा, और मुट्ठी में घास लेकर या रोटी का टुकड़ा लेकर पुचकारो तो वह नेत्रों में स्नेह-भाव भरकर तुम्हारे समीप आ जायगा। देखो—तुम्हारे हृदय के भावों को परखने की शक्ति एक पशु तक में है; फिर मनुष्य का पूछना ही क्या ?"

त्रिवेणी की इस दार्शनिकता के आगे बेचारा गँवार मिट्ठू अधिक देर न टिक सका। पराजित होकर उसने कहा—अच्छा, ये सब बातें तो जाने दीजिये बाबू, यह बताइये कि मंदिर में यदि उसे लाया जाय तो कैसा रहेगा ? 'संध्या' के समय उसके मधुर भजन से क्या मंदिर का कोना-कोना गूँज नहीं उठेगा ?

त्रिवेणी का भोजन समाप्त हो चुका था—मिट्ठू के प्रश्नों का उत्तर दिये बिना ही उठ गया। उत्तर तो वह स्वयं भी ढूँढ़ रहा था।

× × × ×

गाँव में वह बारात एक भूमिहार के यहाँ मोतिहारी से आई हुई थी।

कन्यावाले तो कोई विशेष धनी नहीं थे किन्तु वर पक्षवाले काफी धनी थे। अतः अपने वैभव की विशालता का परिचय शिवनगरवालों को भी देने के लिये खूब सजी-धजी बारात के संग तीन सौ रुपये रात पर एक बाई भी लाये थे। व्याह के दूसरे दिन महफिल खूब ही जमी। बाई की शोहरत सुनकर पास-पड़ोस के गँवई भी आ धमके थे।

और दर्शकों से ठसाठस भरी महफिल में पुरइन के पत्ते की तरह अपने गोल, चमकीले और सतरंगे रेशमी घाघरे को फैलाकर जब वह ठुड्डी पर हाथ रखकर बैठी तो दर्शकों का कलेजा कटने लगा। गाजों के तीव्र आलोक में जैसे लगता था—रूप की वे मधु रश्मियाँ स्वर्ग के किसी कोने से उतरकर जमीन पर विखर रही हों जिन्हें चुन लेनेके लिये प्यासी आँखें सौ जान से फिदा थीं। मुँह-मुँह पर उस स्वर्ग-किन्नरी के अनुपम सौंदर्य की सराहना थी। बाईजी का नाम था—कुसुमलता। सचमुच लता-सी ही सुकुमार और कुसुमदल-सी ही सुन्दर। तब उसका नवयौवन था वह। उसमें जीवन था, उसमें विकास था और थी उसमें प्रचुर मादकता। रूप और शृंगार की एक अद्भुत सन्धि थी वह।

जब दर्शकों की प्यासी बेचैन आँखें उसके मदिर मुख पर सारी की सारी एक बार ही पड़ीं तो अपने रूप और यौवन की सच्ची सार्थ-

कता पर वह फूली नहीं समाई। उसने एक मादक अँगड़ाई ली। मदमाती आँखोंने उस मस्त अँगड़ाई के मोहक उभार से जब दर्शकों को झाँका तो सारे रसिकों का कलेजा हाथ में आने लगा। लोग समझ गये—"बस, गजल अब शुरु ही हुआ चाहता है।"

और साजिंदे भी बाईजी का संकेत पाते ही तबला ठुन-ठुनाने लगे—सारंगी पर रेती चलने लगी। पहले तो बाईजीने दर्शकोंको एक अदाभरी सलामी दी फिर गाने लगीं—

काहे मारे नजरिया
सँवरिया रे—काहे……

फिर नृत्य और संगीत की उन मादक लहरियों में सारे दर्शक शनैः शनैः डूबने लगे। किसी कोने में दुबककर बैठा हुआ था मिट्ठू। आखिर उससे भी नहीं रहा गया तो एक बार वह भी 'वाह-वाह' कर ही उठा। महफिल खूब जमी थी। भला एक देहात में बनारस की मशहूर बाई आये और ठेठों की ठट्ठ नहीं लगे? सबके सब तबतक महफिल में डटे रहे जबतक कि अन्तिम गीत गाकर रुपये और नोटोंकी ढेर समेटकर कुसुम बाई अपनी कनात में न चली गई।

और सबेरे जब बारात विदा होने लगी तो लोगों ने सुना "बाईजी के एक सागिर्द को 'कालेरा' हो गया।" सारी बारातमें भगदड़ मच गई। देखते ही देखते तम्बू खाली हो गया। जान बचाकर सब भाग खड़े हुए तो रह गई केवल बाईजी। उसके

दो-चार साज-सामान वाले भी गोल हो चुके थे।

किन्तु कुसुमलता अपने पीड़ित सागिर्द को छोड़कर भाग न सकी। उसके साथ उसका एक विश्वासी नौकर भी रह गया था।

गाँववाले भी इस समय उन्हें बला समझकर शीघ्रातिशीघ्र गाँव से बाहर कर देना चाहते थे। जीवन भर नाचती और गाती रहनेवाली वह सुकुमार सुन्दरी ऐसी विषम परिस्थिति का सामना करने में दहल उठी। उसका मुँह सूख गया।

करीब डेढ़-दो घण्टेके अन्दर ही उसका वह पीड़ित सागिर्द साफ हो गया। किन्तु बला इतने से ही नहीं टली। अभी वह लाश पड़ी ही थी कि उसके एक मात्र विश्वासी नौकर पुत्तू को भी कै-दस्त आने लगी। कुसुमलता को लगा जैसे संसार की सारी विपत्तियाँ उसके सिर पर एक साथ ही आ गिरना चाहती हों। इतना ही नहीं, नौकर के बाद अब उसीकी बारी थी। भय से वह काँप उठी।

मृत्यु का वह भयावह रूप उसके गोरे-गोरे और सुकुमार कपोलों पर, मृदु मुस्कान के संग खेलनेवाले सलोने होठोंपर अनन्त घिनौनी रेखायें पोतने लगा था। उसकी आँखों में केवल अँधेरा ही अंधेरा था। कुछ देर पहले उसने अपने सागिर्द को तड़प-तड़प कर दम तोड़ते देखा था; वही तड़पन अभी पुत्तू तड़प रहा था—और कुछ ही क्षणों के बाद अब वह भी उसी भाँति तड़पेगी ··· उसके जलते होठोंपर एक बूँद जल

भी देनेवाला कोई न होगा .....

और तब क्षणभर में ही उसके सामने चाँदीका वह सुरा-पात्र, मखमली गद्दे, चाँदी की छोटी-छोटी प्यालो और रकाबियाँ, बनारसी और मगही पानोंके आले बीड़े, मोहक खुशबूवाली इत्र और सेन्ट की शीशियां तथा नील-नरंग घाघरे और साड़ियाँ आईं और बिजली-सी चमककर अपनी कौंध छोड़कर चली गईं। फिर इसके बाद क्या हुआ—उसे कुछ भी होश न रहा।

गाँववालों ने उलटकर उन्हें ताका तक नहीं। सबको अपनी जान की पड़ी थी। समस्त गाँव भीषण भयाक्रान्त था।

किन्तु त्रिवेणी को जैसे ही यह हाल मालूम हुआ झट मिट्टू को साथ लेकर वह पीड़ितों की सहायता के लिये दौड़ा। पहुँचकर देखा तो दो तो साफ हो चुके थे। तीसरी कुसुम-बाई भी कै पर कै—दस्त पर दस्त करती हुई जमीन पर पड़ी हाथ-पैर पटक रही थी। दोनों झट उसे उठाकर मन्दिर की ओर भागे और मन्दिर में लाकर उस विशाल बरगदकी सघन छाँह में रख उसके शरीर पर कुएँ का शीतल जल अनाधून ढालने लगे। प्यास से सूखते हुए तालू जब जलकी एक बूँद के लिये ऊपर खुलते तो झट उसे प्याज का रस पिला दिया जाता। उसपर इतना शीतल जल डाला गया कि उसे कँपकँपी आ गई। जब वह खूब ही ठिठुरने लगी तो उसे कुछ होश हुआ।

कै-दस्त भी अबतक बन्द हो चुकी थी। मृत्यु-दैत्यके भयंकर जबड़ों से खींचकर निकाली हुई कुसुमलता अब जीवन की साँसें ले रही थी।

कुसुमलता का यह पुनर्जीवन था। मृत्यु के मुँह से छीनी हुई वह त्रिवेणी की कृतज्ञता के भार से दबी जा रही थी। उसकी सेवा, उसकी उदारता और उसके अपूर्व त्याग की भावनाओं ने कुसुमलता के उस विलासी जीवन में भी एक तूफ़ान भर दिया। पूर्व जीवन की वह चहलकदमी, रूप और यौवन का वह मस्त व्यापार, वैभव और सौंदर्य का वह रूप-जाल, प्यालियों की ठनन्-ठन, मदिरा की कल-कल-छल-छल, वे मधुर संगीत, वे मोहक स्वर-लहरियाँ– वह नशा, वह उन्माद......

और अब उसे नये जीवन का नया अनुभव, भौतिक जीवन की यथार्थता, संसार की असारता, जीवन की लघुता और अपने रूप और यौवन की झूठी सार्थकता का बोध हुआ। एक दिन वह जब अच्छी तरह चलने-फिरने लगी तो बाल सँवा-रने के लिये शीशेके सामने बैठी, किन्तु अपने गलित सौंदर्य पर उसे घृणा हो आई। वह सोचने लगी—आह, शारीरिक सौंदर्य क्या इतना क्षणिक है? पानी का वह बुल्ला जो सूर्य की सतरंगिनी किरणों का मधु स्पर्श पाकर अपने रूपमें नाना रंग धारण किये पानी पर तिरता फिरता है–किन्तु वही पवनके एक नन्हें-से स्पर्श मात्र से ही फूटकर पानी का बुल्ला पानी में

मिल जाता है—उसका समस्त रूप और सौंदर्य ही पानी हो जाता है !

उसे अपने जीवन से घृणा हो आई। बहुत देर तक बैठी-बैठी अपने पिछले जीवन की अनेक घटनाओं पर विचार करती रही। दिन तेजी से ढलता जा रहा था। सूर्य की तीव्र रश्मियाँ बुझकर अब पीली होती जा रही थीं।

त्रिवेणी उस समय मन्दिर की फुलवारी में काम कर रहा था। कुसुमलता उठी और क्यारी में पड़ी एक चट्टान पर जाकर बैठ गई। त्रिवेणी उस समय अपने काम में व्यस्त था। उसे तनिक भी ध्यान न था कि कुसुमलता भी उसी के पास बैठी हुई है। कुसुमलता मौन और उदास होकर पौधों में खिले फूलों के अनेक रूप देख रही थी। कुछ तो खिल चुके थे, कुछ खिल रहे थे और कुछ कलियाँ खिलने की तैयारी कर रही थीं। फूलों पर काले भँवरों की मतवाली टोलियाँ मँड़रा रही थीं। उसका ध्यान फूल और भँवरों के खेल में उलझ गया। एक भँवरे को वह बड़े ध्यान से देखने लगी—अभी वह एक फूल पर बैठा ही था कि पंख हिलाकर न मालूम क्यों फिर उड़ भी गया और एक दूसरे फूल पर जा बैठा जो अभी अर्द्ध-विकसित ही था। अनेक भौंरे इसी प्रकार के खेल में व्यस्त थे। फिर उसकी दृष्टि एक मुरझाये हुए फूल पर पड़ी जिसपर कोई भँवरा भूलकर भी नहीं बैठता था। उसकी कसी हुई कोमल पंखुड़ियाँ फैल

गई थीं, मुरझाकर सूख रही थीं—सूखकर बिखरी जा रही थीं। न उसमें अब रूप-रस शेष था न सौरभ।

और धीरे से उसके हृदय के अन्दर से एक आवाज आई—"और तुम्हारा जीवन भी तो ठीक इसी मुरझाये फूल की भाँति है कुसुमलता! तुम्हारे चाहनेवाले थे कभी—जब तुम्हारे पास रूप था, यौवन था और थी उद्दाम यौवन की उन प्यालियों में छलकती हुई मदिरा। किन्तु आह! टूटा हुआ धनुष अब बाण क्या चलायेगा? गढ़े गालों में अब वह गुलाबी रँग कहाँ से आयेगा? छाती की हड्डियों पर गठे हुए वे मांस-पिंड अब कहाँ? शृंगार……हाँ वही, जो सौंदर्य में सुरा और सम्मोहन भरता है—इन सूखी ठठरियों को सजाने से क्या लाभ? मुरझाये हुए फूल पर भौंरे नहीं बैठते। सूखे फूलों को पुजारी भी नहीं तोड़ता!

तब?—अब तेरा क्या होगा कुसुमलता?"—

और कुसुमलता ने जैसे उत्तर दिया हो—"कसाई तो पशु के मांस पर ही दाम खोलते हैं न? फिर मेरा क्या पूछते हो?"

कुसुमलता वहाँ से उठी और अन्यमनस्क भाव से इधर-उधर फुलवारी में टहलने लगी। त्रिवेणी ने उसे देखा। उसे चलती-फिरती देखकर उसने संतोष की एक साँस ली और पूछा—"क्यों, अब तो आप थोड़ा-बहुत चल-फिर लेती हैं न?"

कुसुमलता ने उत्तर दिया—"हाँ, हाँ,—खूब अच्छी तरह !"

"किन्तु अभी आप वहुत कमजोर हैं, इतना चलना-फिरना ठीक नहीं। अभी आपको कुछ दिन और पूर्ण आराम की आवश्यकता है। हाँ, एकाध हफ्ते में ठीक हो जायँगी।"

"लेकिन मैं तो कल यहाँ से जाने की सोच रही थी···"

"हाँ आपके घरवाले भी अन्देशा करते होंगे; घर से वाहर निकले वहुत दिन हो भी गये आपको! उन्हें तो आपके वारे में शायद कुछ मालूम न होगा—लेकिन अभी आप जा ही कैसे सकती हैं?"

"और तो कोई नहीं—हाँ, वेचारी बूढ़ी माँ······हाँ, हाँ, उसे माँ ही कहना चाहिये—मेरे लिये अवश्य ही छटपटा रही होगी।"

"तो क्या वह आपकी अपनी माँ नहीं हैं?"

"नहीं, वह कहती थी—उसने मुझे पाँच सौ रुपये में एक मुसलमान से खरीदा था। किन्तु अपनी माँ का भी कोई स्मरण न मुझे तब था न अब ही है। मुझे तो माँ के बदले में माँ मिल गई; बस, मैं इसी में सन्तुष्ट थी।"

"किन्तु कोई माँ तो अपनी बेटी को वेश्या वनाना नहीं चाहती?"

"चाहती तो नहीं, किन्तु एक वेश्या माँ अपनी बेटी को वेश्या के सिवा और बना ही क्या सकती है? बुढ़ापे के लिये कुछ सहारा भी तो चाहिये?—मुझ में रूप था, मुझमें

गुण था—अतः उस्ताद की शिक्षा पाकर बनारस के बाजार में खूब ही चमक उठी। तब मुझे अपने पर घमंड था और मेरी बूढ़ी माँ को मुझपर।

आजसे पहले कभी मैंने यह कल्पना ही न की थी कि मेरा रूप और यौवन इस भाँति भी मिट सकता है! मैं तो नशे में चूर थी, एक सपना देखा करती थी कि लोग सब दिन मुझपर इसी तरह जान देते रहेंगे—हर दिल मुझे कलेजे में छिपाकर रख लेना चाहेगा—मेरे पास रूप होगा और मेरे कदमों पर होंगे रुपये,—रुपयेवाले। लेकिन आज मुझे पता चला कि एक वेश्या के सौंदर्य की क्या कीमत है। उसदिन महफिल में इसी गाँव के कितने मनचले युवक मुझे नैनों में छिपा लेना चाहते थे, मेरे रूप को घोलकर पी जाना चाहते थे—और मैं थी कि अपने यौवन की सार्थकता पर फूली नहीं समा रही थी।

और वही मैं आज भी हूँ, गाँववाले भी वही हैं—मेरे साथी बीमार पड़े, किसीने हमें झाँका तक नहीं। मेरे साथी मर गये, फिर मेरी बारी आई—मैं भी तड़प-तड़प कर मरने लगी किन्तु मुझपर मरनेवालों का तब कहीं पता न था। सचमुच यदि आप नहीं पहुँचते तो शायद उन्हीं की भाँति मेरे भी शरीर का मांस आज गिद्ध-सियार नोचते होते। आपने मुझे पुनर्जीवन दिया है- आपके इस ऋण से मैं दबी जा रही हूँ।"

अनुभव प्राप्त हुआ है। पहले मैं एक वेश्या माँ की वेश्या बेटी थी किन्तु यह मेरा दूसरा जन्म है। अब इस नये जन्म को पाकर पुनः मैं वेश्या बनना नहीं चाहती।"

त्रिवेणी ने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा—इस घटना को इतना महत्व देकर आपको इस भाँति हतोत्साह नहीं होना चाहिये······"

"किन्तु हर घटना का कुछ न कुछ खास महत्व तो होता ही है। मेरा यहाँ आना, मेरा बीमार हो जाना, फिर मन्दिर में लाया जाना और आपके द्वारा एक नया जीवन पाना—ये सारी घटनाएँ मुझे कुछ अनोखी-सी जान पड़ती हैं। यह नया जीवन पाकर एक नया प्रकाश पा सकी हूँ मैं; और इस प्रकाश को अब पुनः नहीं खोना चाहती।"

सहानुभूति भरे शब्दों में त्रिवेणी ने पूछा—"तब क्या चाहती हैं आप? आखिर जीविका के लिये तो कुछ करना ही होगा!"

खिन्न स्वर में कुसुमलता बोली—"यही तो मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करूँ।"

"और फिर आपकी उस बेचारी बूढ़ी माँ का क्या होगा? जीवन से इतना निराश होना तो ठीक नहीं!"

"और यदि मैं उसीदिन मर गई होती······!" कुसुमलता ने अपने तर्कों की पुष्टि की।

सभी मनुष्य आपकी ही भाँति जीवन से उदास हो जायँ तो क्या यह संसार चल सकता है ? मनुष्य के जीवन में ऐसी-ऐसी घटनायें तो प्रायः घटा ही करती हैं लेकिन मनुष्य है जो एक-एक कर सबको भूलता जाता है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य अपने जीवन में एक डेग भी आगे नहीं बढ़ सकता है,—उसका जीना ही दूभर हो जायगा।"

कुसुमलता सोचने लगी—हर व्यक्ति दूसरों को उपदेश देने में बड़ा पटु होता है किन्तु जब उसपर पड़ती है तो वह दूसरों का भी उपदेश भूल बैठता है।

त्रिवेणी ने फिर कहा—और अभी आपकी उम्र ही क्या हुई है। नारी का एकाकी जीवन व्यतीत करना उतना आसान नहीं है जितना कि भावावेश में आकर अभी आप सोच रही हैं। मनुष्य आवेश में आकर कभी-कभी ऐसी भी नादानी कर बैठता है जिसके लिये भविष्य में उसे सारा जीवन ही पछताना पड़ता है। अतः मेरी समझ में तो आपको बनारस जाकर अपना व्यवसाय ही करना चाहिये।

त्रिवेणी के इस अन्तिम वाक्य से कुसुमलता को एक चोट पहुँची। उसे लगा जैसे औरों की भाँति उसे वेश्या समझ कर वह भी उससे घृणा करता है।

त्रिवेणी एक विचित्र समस्या में पड़ गया। कुसुमलता को निरुत्तर पाकर सोचने लगा—आह, यह भावुक लड़की न जानें कितनी व्यथा से भरी है।

उसके नैन-कोरों में झिलमिलाते हुए अश्रु-कणों को देखकर त्रिवेणी का हृदय करुणार्द्र हो उठा। अनुनय करते हुए बोला वह—क्षमा कीजिये......मेरे कहने का तात्पर्य था......

"यही न, कि मंदिर में एक वेश्या नहीं टिक सकती है—अतः मुझे यहाँ से जल्द ही चला जाना चाहिये!"—कुसुमलता ने तिलमिलाकर उत्तर दिया।

"नहीं, नहीं, आपने गलत समझा। मेरे कहने का तात्पर्य था—व्यक्ति को अपनी जीविका के लिये आखिर कुछ न कुछ रोजगार तो करना ही पड़ता है! फिर, आपको केवल अपनी ही चिंता नहीं, इस बूढ़ी की भी तो है जिसे सब दिन से आप माँ कहती आ रही हैं—उसका भी तो कुछ सोचना होगा!"

त्रिवेणी के इन वाक्यों से कुसुमलता को थोड़ा भरोसा हुआ। आँसू पोंछती हुई वह बोली—सो तो ठीक है, किन्तु जीविका के लिये तो कोई दूसरा भी व्यवसाय किया जा सकता है! वेश्या-वृत्ति से आज मेरा मन ऊब उठा है। आज मुझे वह सबसे अधिक घृणित पेशा जान पड़ने लगा है। मेरी तो इच्छा होती है कि इस पुनर्जन्म को अब मैं भगवान के श्रीचरणों की सेवा में लगाकर जीवन सार्थक करूँ!

जब मनुष्य को स्वयं अपने आप से घृणा हो जाती है, उसका जीवन तब उस 'परम शून्य' में व्याप्त हो जाना चाहता है। अतः त्रिवेणी इसमें कुसुमलता को क्या उत्तर देता? जब एक भक्त भक्ति-भाव के अश्रु-फूलों से अपने भगवान को पूजना

चाहता है तो वह कैसे रोके उसे ?

किन्तु उसने मन में कहा—ठीक ऐसी ही भावुकता कभी मैंने भी की थी जिसकी वजह से कभी-कभी आज भी मुझे पछताना पड़ता है।

और कुसुमलता ?—वैभव में पली एक अल्प उम्र की वेश्या! न मालूम जीवन में कबतक अकेली रह सकेगी! जीवन में कितने आँधी और तूफान आते हैं—इस नादान लड़की को अभी क्या मालूम ?

उसने कहा—विचार तो आपका बड़ा उत्तम है, भगवान के यहाँ भावों की परख होती है—जाति-पाँति और धर्म-सम्प्रदाय की नहीं। किन्तु एकबार पहले आप बनारस से तो हो आइये! स्थिर मन से थोड़ा सोच-विचार लीजिये फिर देखा जायगा!

कुसुमलता भी त्रिवेणी की इस सलाह से सहमत हो गई। संध्या का अंधकार घनीभूत हो रहा था। तारे छिटक रहे थे।

त्रिवेणी बोला— मंदिर की 'संध्या' का समय हो चुका, अतः हमें अब यहाँ से चलना चाहिये!—और दोनों उठ कर मंदिर चले गये। मंदिर में घंटों की ध्वनि गूँज रही थी।

तीसरे दिन कुसुमलता बनारस जाने लगी। साथ में मिट्ठू भी था। जब वह मंदिर के आँगन से निकलने लगी तो उसे लगा जैसे उसके जीवन की एक अनमोल वस्तु वहीं छूटी जा रही हो। उसकी आँखें भर आईं। मुड़कर देखा तो गंभीर भाव से त्रिवेणी भी उसके पीछे-पीछे आ रहा था।

मंदिर की दीवारों पर बड़े-बड़े सुन्दर अक्षरों में कुछ सद्वाक्य लिखे थे—दया धर्म का मूल है, सब जीवों पर दया करो; क्षमा ही अहिंसा है; इत्यादि-इत्यादि ! वह आगे बढ़ी जा रही थी। उसके मस्तिष्क में वे सद्वाक्य रह-रहकर गूँज उठते थे।

मंदिर के फाटक पर आकर एक बार वह रुकी तो उसकी आँखों से आँसू चू पड़े। झुककर त्रिवेणी को प्रणाम किया और फिर बैल-गाड़ी पर चढ़ गई। त्रिवेणी मौन था। उसने आशीर्वाद तो दे दिया किन्तु आँखें उसकी भी भर आई थीं।

गाड़ी आगे बढ़ी—बढ़ती गई ! त्रिवेणी हृदय में भावों का बोझ लेकर लौट आया।

(६)

उस कालेज के छात्रों में अजीत का एक प्रमुख स्थान था। उसका व्यक्तित्व सभी के लिये एक आकर्षण का विषय था। बड़ा ही सरल और मृदुभाषी था वह। बोलने की क्षमता और शैली भी उसकी अच्छी थी। बी० ए० में 'कालेज-डिबेट' में उसने बहुत अधिक भाग लिया था। विषयों का अध्ययन और चयन भी उसका अच्छा था। कालेज में कई प्रोफेसरों के प्रयास से एक साहित्यिक गोष्ठी बनी थी जिसके सदस्य उत्साही अध्यापक एवं अनेक छात्र-छात्राएँ थे। इसके सदस्य समय-

समय पर अन्यान्य विषयों पर विचार-विमर्श का आयोजन करते रहते थे। हिन्दी विभाग के प्रधानाध्यापक उस गोष्ठी के अध्यक्ष थे। आगामी वार्त्ता का विषय प्रायः वे ही घोषित कर दिया करते थे या कभी-कभी प्रिंसिपल साहब भी कर देते थे।

उस समय सेकेण्ड इयर में एक लड़की पढ़ती थी—कामिनी। कामिनी शहर के एक मैजिस्ट्रेट की बेटी थी। वह भी अपने क्लास की एक कुशल छात्रा थी। साहित्य से उसे विशेष अभिरुचि थी। कालेज के मैगजिन्स में उसके अनेक लेख और कविताएँ छपी थीं। डिबेट के प्लैटफार्म पर भी कई बार उतर चुकी थी।

एक बार डिबेट का विषय 'वर्त्तमान समाज में पुरुष और नारी' रक्खा गया था। अनेक छात्र-छात्राओं ने उसमें उत्साहपूर्वक भाग लिया था। लड़के समस्त सामाजिक भ्रष्टाचारों और पतनों का एकमात्र कारण नारी को ही ठहराते थे जब कि दूसरी ओर लड़कियाँ गर्म-गर्म शब्दों में उनका विरोध करती हुई समाज की सारी बुराइयों का उत्तरदायित्व प्रायः पुरुषों के ही माथे पर थोप देती थीं।

सभी लड़कियों में नारी का पक्ष ग्रहण कर बोलने में अन्तिम जोरदार भाषण कामिनी का हुआ। लड़कियों के मुँह से 'वाह-वाह' और कुछ लड़के और अध्यापकों को अपनी ओर मुस्कुराते देख उसका मुँह लज्जा से आरक्त हो उठा था। वह अपनी

विजय पर खुश थी।

किन्तु जब अजीत उठा और सधे स्वर तथा शुद्ध और शिष्ट साहित्यिक शैली में शब्दों को तौल-तौल कर बोलने लगा तो सारे लड़के मारे खुशी के तालियाँ पीटने लगे। पुरुष वर्ग का उखड़ता हुआ पैर अजीत के द्वारा फिर से जम गया। उसके न्यायसंगत तर्क और पुरुष-नारी की निष्पक्ष आलोचना-से प्रिंसिपल साहब और प्रोफेसर खुश हो उठे। कामिनी को अजीत का एक-एक शब्द अपनी ओर खींचे ले रहा था। जितनी बातें वह चाहती थी लेकिन बोल नहीं पाई थी—वे सभी अजीत के मुँह से सुनकर वह दंग रह गई। नारी के पक्ष में पुरुषों की निंदा के लिये बहुत सी बातें वह असंगत भी बोल गई थी। किन्तु अजीत के द्वारा नारी और पुरुष की वैसी सुन्दर समीक्षा सत्य और निष्पक्ष पाकर वह झेंप गई। उस दिन की विजय-श्री अजीत की ही रही।

कालेज का डिबेट तो समाप्त हो चुका था किन्तु अजीत के द्वारा हराया हुआ उसका मन अब अजीत से एक डिबेट करना चाहता था। वह पूछना चाहती थी—क्या दलित नारी की कराहें केवल व्याख्यान में ओजस्वी भाषण झाड़ने के लिये ही सुनते हो या उसके प्रति हृदय में कुछ दर्द और सहानु-भूति भी है?

पर उससे यह पूछे तो कैसे?—अजीत था पुरुष और वह

थी एक नारी। कालेज में लड़के-लड़की की मित्रता प्रायः असम्भव-सी ही रहती है। और यदि हो भी तो बिना व्यंग और बदनामी के संभव नहीं।

युवावस्था पहाड़ी नदियों का एक बरसाती प्रवाह है। यह प्रवाह जिस ओर बढ़ता है—कूल-कगारों को तोड़ता-फोड़ता निकल जाता है। हृदय में जब कल्पना के पंख लगा-कर भावों का तूफान उठने लगता है तो लोग समझ जाते हैं कि जीवन में जवानी का आगमन हो गया।

और नई जवानी लड़कपन से कोई कम भी नहीं। जो वस्तु एक बार भा जाती है उसे अपना लेने की एक प्रबल कामना जाग उठती है, उसे अपने निकट देखने की उसमें एक चाह होती है—उसके सौन्दर्य से खेलने की मन को एक लालच-सी होती है।

अजीत कालेज के उन आवारों में से नहीं था जो किसी भी सुन्दर और हसीन लड़की को देखकर झट आहें भरने लगते हैं—सीटी बजा-बजाकर उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का मूर्ख प्रयास करते हैं।

बस से जानेवालों को गेट तक पैदल ही जाना पड़ता था। कालेज से गेट की दूरी करीब आध फर्लाङ्ग से ऊपर होगी।

कामिनी और अजीत गत् दो वर्षों से एक दूसरे को देखते आये थे। लेकिन कालेज में तो उतने लड़के थे—कौन किसको पूछता है! हाँ, कभी-कभी लेज़र-पीरियड में 'टेबुल-टेनिस'

खेलते समय भले ही कुछ देर के लिये अजीत और कामिनी का साथ हो जाया करता था किन्तु उस हाल में उतने लड़के-लड़कियों के बीच में केवल प्वाईन्ट्स गिनने और रह-रहकर किंचित मुस्कुरा उठने के अतिरिक्त और बोला ही क्या जा सकता था।

अतः अजीत से दो-दो बातें करने के लिये कामिनी व्यग्र रहने लगी। अजीत से मित्रता की भूख उसमें तीव्र होती जा रही थी मगर उसे इसका अवसर ही प्राप्त नहीं होता था। और अजीत था कि उसके लिये कालेज के उतने छात्र-छात्राओं की भाँति कामिनी भी एक थी। उसे कामिनी-भामिनी किसी से भी विशेष दिलचस्पी नहीं थी। अनेक बार कामिनी के द्वारा मुस्कान का उत्तर मुस्कान में पाकर भी उसने कोई विशेष अर्थ नहीं लगाया था और न तो इसका उसे रोग ही था।

किन्तु कामिनी क्या करे! वह रोग जो जवान लड़कियों को एक बार हो जाता है तो फिर उसकी जवानी का जनाजा बनकर ही निकलता है। सतत् वह अजीत से एक मधुर संभाषण का अवसर ढूँढ़ती रहती। और अन्त में हारकर एक दिन उसे एक घटना की सृष्टि करनी ही पड़ी।

छुट्टी हो जाने के बाद उस दिन अजीत जब कामिनी के आगे-आगे जा रहा था तो हाथ में पाँच रुपये का नोट लेकर कामिनी ने पीछे से पुकारा—सुनिये, यह नोट शायद आप

ही का तो नहीं गिरा ?

मुड़कर अजीत ने कामिनी की ओर देखा—फिर उस पाँच रुपये के नोट को; और झट से बोल उठा—"नहीं यह मेरा नोट नहीं है।"

"फिर भी जरा अपनी जेब तो देख लीजिये, अभी-अभी का गिरा हुआ यह नोट है—कहीं धूल भी नहीं लगी है।"—कामिनी ने पर्याप्त साहस बटोरकर कहा।

इस तरह अनेक बार अजीत ने खंडन किया कि वह नोट उसका नहीं है और कामिनी बार-बार यह सिद्ध कर देना चाहती थी कि वह नोट उसी का है।

आखिर हारकर अजीत को कहना ही पड़ा—"अच्छा तो मेरा ही सही—लाइये इधर।" और मुस्कुराकर कामिनी ने वह नोट अजीत को थमा दिया। अजीत भी उस नोट को जेब में डालकर मुस्कुराता हुआ चल दिया। किन्तु उस दिन की मुस्कान का वह अनुभव कुछ अनोखा था। लौज में जाकर उसने जब कमीज उतारी और उस नोट को उलट-पलट कर गौर से देखा तो एक कोने में अति बारीक अक्षरों में लिखा था—'कामिनी'।

अब सारी बातों को समझने में उसे देर न लगी और क्षणभर में ही आज तक के उन समस्त हावों-भावों का अर्थ भी उसने इसी कसौटी पर कस डाला।

फिर दोनों का परिचय धीरे-धीरे घनिष्ट होता गया।

कामिनी के घर जाकर अजीत कई बार चाय भी पी आया था।

दोनों की यह घनिष्टता कितनी बढ़ी—ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। किन्तु उन दोनों के इस स्नेह-सम्बन्ध का आभास मैजिस्ट्रेट साहब को भी मिल चुका था। वह अजीत से बहुत प्रभावित हुए। कालेज में भी शोर मच गया था—"अजीत और कामिनी का आपस में विवाह होने जा रहा है।"

लेकिन विधि-लिपि को कौन मेटे?—कामिनी और अजीत जीवन के एक सूत्र में बँध न सके।

जब कर्नल साहब ने अजीत की शादी कानन के संग कर दी तो निराश होकर मैजिस्ट्रेट साहब को भी कामिनी का व्याह एक अन्य युवक के साथ कर देना पड़ा।

मैजिस्ट्रेट साहब अजीत को बहुत ही अधिक चाहते थे। उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो हर किसी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थीं। अपने हाथ से अजीतके छिन जाने का उन्हें बहुत खेद था।

और अजीत को कानन के संयोग का जितना हर्ष न था उससे अधिक उसे कामिनी के बिछुड़ने का दुःख था। कानन और कामिनी उसके जीवन की दो धाराएँ थीं। कामिनी उसके जीवन में भावों का तूफान लेकर चुपके से उतर आई थी। और कानन—प्रकृति की सौम्य सुषमा, कानन के कुसुमों की स्निग्ध मोहकता और मदान्ध सौरभ लेकर आई थी।

अजीत के मस्तिष्क में एक अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था। इस अन्तर्द्वन्द्व का आभास पाकर कानन यह समझती थी कि उसे पति का प्यार पूर्ण रूप से नहीं मिल रहा है।

और इसका आभास जब अजीत को मिलता तो वह हृदय से कामिनी को भुलाकर कानन को सम्पूर्ण भावना से प्यार करने का प्रयास करने लगता।

मन और आत्मा मानवीय जीवन के दो भिन्न शासन-सूत्र हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य में ज्ञान का विकास होता है अत्मा सबल और सुन्दर होती है। ज्ञान-रश्मियों के साथ-साथ उसमें न्याय, शील और क्षमा का भाव प्रस्फुटित होता है। किन्तु मन ?—

वह तो क्षुद्र नदी की चंचल धारा है। थोड़ी-सी सफलता पाकर अपने को भूल बैठता है,—आकाश में उड़ने लगता है। और जहाँ थोड़ी-सी असफलता मिली कि सिर धुनने लगता है। एक नन्हा बालक, जो आग छूने के लिये मचलता है और छूकर चीख भी उठता है—ऐसे बालकों के लिये ज्ञान का विकास उनके चंचल पैरों की जंजीर है। मन के तेज घोड़े को सीमित और शान्त रखने के लिये पीठ पर बोझ और पैरों में ज्ञान-आदर्श की बेड़ी अपेक्षित है।

इन्हीं रहस्यों के बीच मानव का जीवन मन और आत्मा की हार-जीत के बीच आगे बढ़ता है। कभी खींच, कभी तान! मानव का मन नन्हा बालक बनकर जब किसी वस्तु

के लिये मचलता है तो उसका ज्ञान और विवेक धर्मनिष्ठ और कर्मनिष्ठ बनकर उसे डाँट बैठता है। ऐसे ही अवसरों पर ज्ञानी से ज्ञानी पुरुष भी डगमगा उठते हैं, आँखों में आँसू छलक आते हैं—अधर विकम्पित हो उठते हैं।

अजीत ठीक ऐसा ही एक अबोध बालक था। कामिनी और उसमें स्नेह का भाव बहुत सघन हो चुका था। दोनों एक दूसरे का बन जाने की कल्पना कर चुके थे। उनका प्यार और आकर्षण भी स्वभाविक था, मौलिक था। किन्तु निष्ठुर संसार की भीषणता के समक्ष वे ज्योंही खड़े हुए कि दोनों की राहें दो हो गईं। वे जितना ही आगे बढ़े एक दूसरे से उतनी ही दूर होते गये। किन्तु रोते हुए भावुक मन को कौन समझाये।

उन दिनों अजीत का व्याह हुए पाँच-छः महीने ही हुए थे। कामिनी की याद उसके हृदय में अभी हरी थी। उसे यह भी ज्ञात हो गया था कि उसकी शादी के कुछ ही दिन बाद कामिनी का व्याह भी पुलिस-विभाग के एक अफसर के साथ हो गया है। अजीत इन सारी घटनाओं को 'होनहार' समझकर अवाक रह गया। उसे इसका ज्ञान ही न रहा कि उसके जीवन में इतने सारे उलट-फेर कब और कैसे हो गये। एकबार उसने कर्नल साहब से इस विवाह का विरोध किया भी था लेकिन जब उन बड़ी-बड़ी लाल-पीली आँखों के सामने पड़ा तो फौजी घुड़कनें खाकर उसकी अक्ल ही गुम हो गई।

यद्यपि उसकी नसों में विद्रोही भावनायें खौल उठी थीं लेकिन उन्हीं में माता-पिता का प्यार भी प्रवाहित हो रहा था—समाज की लोक-लज्जा का भय सना था। लाख चाहते हुए भी माता-पिता का विरोध नहीं कर सका।

और किया वही—जो उसके माता-पिता चाहते थे।

ऐसे ही दिनों में उसे जब कामिनी का स्मरण आता तो उसका मन विक्षुब्ध हो उठता था। उसकी समझ में उसे कामिनी से छीनकर उस पर बड़ा अन्याय किया गया था। अतः उसका क्षुब्ध मन कामिनी की उन अतीत स्मृतियों का संचयन करता तो उसके अनेक रूप मोहक छवियों की मधुर रश्मियाँ लेकर उसकी पलकों पर नाच उठते थे। तब उसके अन्दर की वे विद्रोही भावनाएँ उत्पात मचाने लगती थीं। उसका मन तब एकाएक चिल्ला उठता था—"मुझे कामिनी से छीन लेनेवाली यह कानन कौन होती है? जो व्यक्ति अपने हृदय का सारा प्यार किसी दूसरे को दे चुका है—यह मूर्ख कानन फिर भी उससे प्यार की आशा रखती है? दूसरे का अधिकार छीन कर अपना अधिकार ढूँढ़ती है? नहीं, नहीं,—यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। उसे प्रसन्न रखने में यदि मैं असफल रहता हूँ तो यह मेरा अपराध नहीं।

लेकिन जैसे ही उसकी दृष्टि कानन के भोले मुख-मंडल पर पड़ती थी—उसका सारा क्रोध पानी हो जाता था। उसके स्वभाव की सरलता पर, उसके भोले सौंदर्य पर, उसके

निर्मल हास्य और निश्छल व्यवहार पर उसके अन्दर का विद्रोही पुरुष पिघलकर करुणा की स्निग्ध धारा बन जाता था। तब वह सब कुछ भूलकर कानन को चूम लेने के लिये आकुल हो उठता था—उसे नयनों की पुतली में छिपा लेना चाहता था, दान का प्रतिदान पाकर क्षण भर के लिये सब कुछ भूल बैठता था—कानन के हृदय की सघन स्नेह-छाया में अपना अस्तित्व ही खो बैठता था।

खेलते हुए बालक का खिलौना छिन जाने से वह रोने लगता है। किन्तु जब उसे पहले से भी अधिक बढ़िया एक दूसरा खिलौना मिल जाता है तो वह पहले की सुधि भूल बैठता है। लेकिन जैसे ही वह पहले खिलौने को देख लेता है—वह उसके लिये मचलना भी नहीं छोड़ता। ठीक यही अवस्था एक भावुक की मनोदशा की है।

किन्तु कानन ?—

अजीत जैसा गुणवान पति पाकर अपने भाग्य को सराहती थी। उसे पति से जो कुछ भी मिल जाता था बस, केवल उतने ही से वह सन्तुष्ट थी।

(७)

शिवनगर की आवादी करीव तीन-चार हजार की थी। कुछ घर तो ब्राह्मण थे, कुछ भूमिहार-क्षत्री, और शेष मजदूर वर्ग।

भूमिहार-क्षत्रियों के परिवार किसी जमाने में काफी सम्पन्न थे। किन्तु आपस में इतना लड़ते-झगड़ते रहे कि सारे के सारे रईस मुकदमा में ही तबाह हो गये। उन दिनों राय बहादुर की काफी धाक जमी हुई थी। उनके वैभव और व्यक्तित्व की शोहरत पड़ोसी इलाकों में खूब फैली हुई थी। तब सारा गाँव उनकी सत्ता को स्वीकार करता था। किन्तु, आज उन्हीं का गाँव एक खँडहर-स्वरूप बच रहा था।

ब्राह्मणों के घर में शिक्षा का थोड़ा-वहुत प्रचार था। कुछ लोग पढ़-लिखकर परदेश में नौकरी करने लगे थे। जिसके घर में एकाध परदेशी होता उसका घर सुखी और सम्पन्न समझा जाता था,—गाँव में उस घर की इज्जत थी।

ऐसे ही सुखी परिवारों की देखा-देखी कुछ भूमिहार-क्षत्री के लड़कों ने भी की और वम्वई-कलकत्ता-जैसे औद्योगिक नगरों में जाकर पैसा पीटने लगे।

गाँव की सारी जोत उच्च वर्ग की जातियों की थी। आवादी का अधिकांश भाग मजदूर और कमकरों का था। उस

प्रान्त में खासकर धान की ही खेती होती थी। गाँव में बनिहारी (हरवाही) की प्रथा थी। हर किसान को अपने-अपने कुछ मजदूर हुआ करते थे। वे मजदूर किसानों की एक प्रकार से सम्पत्ति समझे जाते थे। जब कोई गरीब मजदूर विवाह या श्राद्ध जैसे आवश्यक अवसरों पर रुपये की नितान्त आवश्यकता में पड़ता तो वह अपनी जान पर किसी किसान से डेढ़-दो सौ रुपये लेकर 'हरवाही' लिख देता। हरवाही शर्त्त के अनुसार जबतक वह जिन्दा रहता उसे अपने किसान का हल जोतना या खेती-बारी के और भी अन्य काम करने पड़ते। जबतक उसके किसान का काम समाप्त न हो जाता उसे अन्यत्र मजदूरी कमाने का कोई हक न होता। ऐसे हरवाहों की मजदूरी निर्धारित हुआ करती थी। दिन भर की कड़ी से कड़ी मजदूरी चार-छः आने पैसे या डेढ़-पौने दो सेर अनाज से अधिक नहीं होती थी।

किसान भी आलसी और अकर्मण्य थे। बस एक ही फसल पर निर्भर रहना—चाहे जो भी उपज जाय—भाग्य पर भरोसा कर लेते थे। जिस वर्ष उपज अच्छी होती किसान सुखी और प्रसन्न रहते। और जिस साल दुर्भिक्ष पड़ जाता—जगह जमीन, गहना-जेवर बंधक रखकर किसी प्रकार साल गुजारते थे। जव ऐसी दशा किसानों की ही थी तो फिर वेचारे मजदूरों का क्या ठिकाना ? कभी-कभी तो हरवाहे तक भी कुछ रुपयों पर वेच या गिरवी रख दिये जाते थे। सिर्फ

इतना ही नहीं, जरा भी इधर-उधर होने पर बबुआनों के गरम छोकड़े अपने हरवाहे को बुरी तरह पीट भी देते थे। ऐसे ही कई दृश्य त्रिवेणी ने अपनी आँखों से अनेक बार देखे थे। उसका हृदय उन पाशविक जघन्य व्यापारों से चीख उठा था। उसके हृदय में एक क्रांति की भावना तभी से हिलोरें ले रही थीं। उसने देखा—ग्वाले मवेशी पालते हैं, मनों दूध दुहते हैं किन्तु वे ऋण से इतने दबे हैं कि उनका सारा दूध—ऋण के ब्याज में ही चला जाता है।

जब मजदूर बेरोजगार होते थे तो अपने किसानों के यहाँ से कर्ज ला-लाकर गुजारा करते थे और वह कर्ज उनकी बनिहारी में से फसल के दिनों खलिहान पर ही एक का दो वसूल लिया जाता था। शोषित मजदूरवर्ग दिन पर दिन और भी चुँसते जा रहे थे। न तो उनके पेट में दाना होता और न शरीर पर वस्त्र ही। ऐसी परिस्थिति में मजदूर भी मन से काम करना नहीं चाहते थे। जबतक खेत में किसान रहा—तबतक तो इधर-उधर काम किया—और जैसे ही वह हटा कि काम नहीं; काम का नाम होने लगता था।

कुछ दिनों तक तो त्रिवेणी ने मंदिर में रहकर जनसाधारण का विश्वास और सहयोग प्राप्त किया। अपनी कुशल बुद्धि और सरल स्वभाव के कारण वह हर वर्ग और हर व्यक्ति में प्रवेश कर गया। सर्वोदय के लिये लोक-कल्याण का सुन्दर क्षेत्र सर्वप्रथम उसने शिवनगर को ही चुना। वहाँ पर उसे

हर प्रकार की सहायता मिलने की आशा थी।

'सर्वोदय' का सिद्धांत था—टीलों को काटकर खाई भरना, अन्न और वस्त्र की सामूहिक समस्या का हल करना, जनता के जीवन में शिक्षा और आदर्श का प्रकाश भरना, दलितों के जीवन को ऊँचा उठाना तथा आर्थिक विषमता को दूर कर जन-साधारण में एकता और समता का भाव भरना।

किसी भी देश, किसी भी काल में 'राम-राज्य' की स्थापना तभी हो सकी है जबकि ये समस्यायें सुलझाई गईं; अन्यथा सब दिन से मनुष्य आर्थिक विपन्नता से बाध्य होकर एक बर्बर जीवन बिताता आ रहा है। मनुष्य जीवन की कुछ विषम परिस्थितियों में पड़कर जंगली पशुओं से भी अधिक हिंस्र और निर्लज्ज जीवन बिताने लगता है।

किन्तु एक आर्थिक क्रान्ति के लिये सर्वप्रथम अर्थ की ही आवश्यकता पड़ती है।

अकर्मण्य किसान जो बहुत-सी जमीन भी अपनाये बैठे थे—पूँजी के अभाव में उचित उपज नहीं कर पाते थे। प्रायः वे नये बैलों की जोड़ी खरीदते और साल भर में ही बेकाम बनाकर साग-बैगन के भाव बेंच देते। पशुओं के चारे की कोई समुचित और ठोस व्यवस्था न रहने के कारण नया से नया पशु भी साल भर में ही बस बोल जाता था। सिंचाई की कोई स्थाई व्यवस्था न रहने के कारण प्रायः

कभी-कभी धोखा दे देता था। वैसी परिस्थिति में किसी प्रकार ऋण-कर्ज लेकर भी की गई खेती या तो अवृष्टि से दह जाती या अनावृष्टि से सूख जाती। तब बेचारे निर्धन किसान महाजनों के भयानक चंगुल में और भी जा फँसते।

एक बार दो-चार गाँवों के भूखे-नंगे मजदूरों ने किसानों से मजदूरी बढ़ाने की माँग की। किन्तु जब किसानों ने उन्हे बिल्कुल सूखा जवाब दे दिया तो उन्होंने हड़ताल करने के लिये मीटिंग करने का आयोजन किया। उन दिनों कलकत्ता से एक मजदूर आया था जो वहाँ की किसी जूट-मिल की यूनियन का सदस्य था। उसी के प्रयास से वह मीटिंग आयोजित हुई थी।

किन्तु भूमिहार और क्षत्री के गर्म खूनवाले युवक मजदूरों की यह धृष्टता कब सहनेवाले थे! वे लाठी लेकर पिल पड़े। मार-पीट हो गई। इस आर्थिक युग में निर्धन तो शक्तिहीन होते हैं। अतः मजदूर हार गये। मजदूरी तो न बढ़ी किन्तु हाँ, दिल का घाव भले ही हरा हो गया। घृणा और द्वेष की भावना से गाँव का शान्त वातावरण भी विषाक्त हो उठा।

त्रिवेणी को इस घटना से बड़ी चोट पहुँची। भूखा और नंगा भूखे और नंगों से ही रोटी-कपड़े की माँग करे—उसे एक विकट समस्या-सी जान पड़ी। अतः विषय पर बहुत मनन-चिंतन करने के बाद भूखमरी की इस विकट समस्या को हल

करने के लिये, सम्पत्ति के समान वितरण का उसने एक दूसरा ही मार्ग चुना जिसमें मौलिकता और सुगमता थी। और वह था—अधिक से अधिक अन्न उपजाना।

एक भीषण आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता थी और इस क्रान्ति का प्रथम डेग था—अधिक अन्न उपजाकर जन-जीवन की रोटी और वस्त्र की समस्या सुलझाना। इसके बाद शेष समस्यायें आपसे आप ही सुलझ जाती हैं।

साहित्य भी समाज में एक जोरदार क्रान्ति ला सकता है लेकिन आज के लेखक और कवि तो अपनी रचनाओं में दीन-हीन ग्रामीणों की सौंदर्य-कल्पना स्वप्न-लोक के जीवों से कम नहीं करते। काश! अभाव और आँसू से भरे प्रकृति के इन पुत्रों की नग्न दशा को भी वे देख पाते!

बिहारीजी के नाम से मन्दिर की वह चढ़ौआ भूमि करीब चालीस-पचास बीघे की थी! गाँव के किसानों को बँटाई पर दे दी जाती थी। साल में कुल सौ-सवा सौ मन ही अनाज आता। मन्दिर में कोई विशेष खर्च नहीं था। इसके अतिरिक्त उस प्रान्त के पड़ोसी गाँवों में त्रिवेणी की योग्यता, उसके आदर्श त्याग और उसकी सच्चरित्रता के कारण मंदिर की ख्याति खूब फैल चुकी थी। दर्शकों और भक्तों की संख्या बढ़ रही थी। आर्थिक लाभ से मन्दिर का कोष भी भर रहा था। पिछले दो वर्षों में मन्दिर के रुपये करीब पाँच-छः हजार जमा हो गये थे। त्रिवेणी इस पूँजी से

मन्दिर की आमदनी में वृद्धि करने का विशेष प्रयोग करना चाहता था—"यदि थोड़ी लागत में सौ-डेढ़ सौ मन के बदले चार-पाँच सौ मन अनाज पैदा हो जाय तो केवल मन्दिर की ही दशा नहीं सुधरेगी बल्कि गाँव के सारे अकर्मण्य किसानों की भी आँखें खुल जायँगी।"

भूमि की पैदावार बढ़ाने के लिये सर्वप्रथम सिंचाई का सफल साधन होना आवश्यक है। इसके लिये उसने दो इनारे खुदवा कर रहटें लगवा दिये। उसका अनुमान था कि यदि वर्षा का अभाव भी हो जाय तो सारे खेत बैलों के द्वारा सींचे जा सकते हैं। बैल तो किसानों के पास रहते ही हैं, इसके अतिरिक्त इसके कल-पुर्जे इतने बड़े-बड़े और मजबूत होते हैं कि खराब होने की संभावना बहुत कम ही रहती है। आजके वैज्ञानिक युग में छोटे-मोटे किसानों के लिये रहट सबसे सुन्दर और सहज सिंचन-यंत्र है।

उसने देखा था—किसान इस भय से कि कहीं पानी का अभाव न हो जाय, अपने खेतों में खूब पानी भरकर रखते थे और उसीमें इधर-उधर हल चलाकर रोपाई कर देते थे। परिणाम यह होता था कि जोत अच्छी न हो पाती थी और रोपे हुए पौधे अधिक जल के कारण मिट्टी में जड़ रोपने के बजाय उपला जाते थे जिससे उपज में भारी क्षति पहुँचती थी।

किन्तु जल का खजाना जब किसान के हाथ में होता है तो

फसल मनोनुकूल होती है।

सिंचाई की समस्या सुलझ जाने पर उसने उत्पादन के और भी शेष अंगों पर ध्यान दिया। खेती की कुछ रूढ़िवादी पद्धतियाँ चली आ रही थीं जिन्हें अंधविश्वास के कारण किसान छोड़ना नहीं चाहते थे। बीजों की क्षमता पर बेचारे अपढ़ किसान ध्यान नहीं दे पाते थे और जैसे-तैसे बोकर ही फसल काट लेना चाहते थे। उनके छोटे-छोटे बैल होते और जोत के बदले भूमि की पपड़ियाँ ही उखाड़ी जातीं।

मन्दिर की सारी भूमि एक ही चकले में पड़ती थी। त्रिवेणी की सफलता का यह भी एक विशेष कारण था। जितने भी छोटे खेत थे उन्हें तोड़--ताड़कर बड़ा बनवा दिया ताकि जोताईके समय मेंढ़ों के पास बहुत कम ही जमीन बच जाय।

त्रिवेणी जान का अकेला था। अकेला वह कितना संभाल पाता? अतः उसने मंदिर के सारे खेत गाँव के गरीब मजदूरों को बँटाई पर दे दिये और मन्दिर के कोष से बैल, बीज और खेती का खर्च निर्व्याज दिया। ऐसी अप्रत्याशित उदार सहायता पाकर बेचारे मजदूर किसान त्रिवेणी को साक्षात 'दीनानाथ' ही समझने लगे। फिर त्रिवेणी की संरक्षता में उन मजदूर किसानों ने इस भाँति जी खोलकर परिश्रम किया कि सचमुच ही उस साल दूनी उपज हुई।

जब किसान खलिहानों से अनाज बोरों में भर-भर कर घर ले जाने लगे तो उन्हें लगा जैसे उन्हें पशु से मनुष्य बनाने के लिये गाँव में कोई सिद्ध महात्मा आ गये हों।

खेतों की उर्वरा शक्ति बढ़ाने या अक्षुण्ण रखनेके लिये उचित खाद की आवश्यकता होती है। किन्तु यह आवश्यकता गँवार किसानों के लिये एक विकट समस्या है। कुछ तो अभाव से और कुछ असावधानी से खेतों की खुराक जलाकर नष्ट कर दी जाती है या लापरवाही से इधर-उधर रखी गोबर की ढेरें बरसाती जल के साथ बह जाती हैं।

खाद की समस्या हल करने के लिये त्रिवेणी को एक नई युक्ति सूझी। धान के खेतों में पुआल बहुत अधिक होता है लेकिन पशुओं की वह स्वस्थ खुराक नहीं होता।

उस साल मंदिर के खेतों में जो धान की कटनी हुई थी उसमें धान के पौधे आधी दूरी से ही काट लिये गये थे और जड़ प्रदेश का शेष आधा भाग खेतों में ही लगा छुड़वा दिया। इससे हुआ क्या कि धान की फसल काट लेने के बाद रहट की सहायता से खेतों की मामूली सिंचाई कर छोड़े हुए मय आधे पुआलों के अच्छी जोत करवाकर, जिन खेतों में कैतकी धान था उनमें तो गेहूँ-चना, और जिनमें जड़हन था उनमें मूँग, उरद और खेसाड़ी बो दी।

खेतों में जुता हुआ पुआल कतिपय डाले हुए सड़े गोबर के साथ ज्यों-ज्यों सड़ने लगा पौधों में रंग आने लगा।

समय-समय पर हल्की सिंचाई कर देने से फसल जोर की लगी। काफी अन्न हुआ, भूसे की ढेर लग गई। किसान और बैल दोनों के पेट भरने लगे।

भूसी-दाना और खली पाकर बैल मजबूत और हरे रहने लगे। गाय और भैंसों के थनों में दूध भर आया। अधिक खुराक मिलने पर मवेशियों की संख्या बढ़ चली। इस तरह खाद और खाद्य का उत्पादन पहले की अपेक्षा दिन-दिन अधिक बढ़ने लगा।

त्रिवेणी की यह हुनर और सफलता देखकर गाँव के सारे किसान चौंक उठे। खेती में सभी ध्यान देने लगे। ऊसर और बञ्जर में मड़आ और कोदौ बोया गया, साग-सब्जियाँ उपजाई जाने लगीं। ठीक दूसरे ही वर्ष देखते-देखते उस गाँव में दस-बारह रहट लग गये। हर मवेशीखाने के सामने गोबर सड़ाकर खाद बनाने का एक गड्ढा दिखाई पड़ने लगा। जिस व्यक्ति को महान बनना होता है—समय भी बराबर उसका साथ देता रहता है—सफलता उसके पैर चूमती है।

(८)

कानन को ससुरार आये पाँच-छः महीने हो गये थे। जबतक अजीत उसके साथ रहा—उसका थोड़ा-बहुत मनो-रंजन हो जाया करता था। उसके लिये वहाँ केवल अजीत ही एक ऐसा था जिसके समक्ष वह अपने हृदय के भावों को व्यक्त करती थी—कर सकती थी; अन्यथा उस अपरिचित स्थान में घूँघट और सेहरों से ढँकी नव बधू का वह जीवन उसे रहस्यात्मक-सा प्रतीत होता। नैहर के स्वतंत्र प्रांगन में विचरनेवाली सुकुमार कानन ससुरार के उस बन्द पिंजड़े में सिसकने लगी,—घुटने लगी। न किसी को वह कुछ सुना सकती थी और न किसी से कुछ सुन ही सकती थी। छोटे-बड़े, सबों की आज्ञा का पालन करना,—सबों को प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न रखना—इन्हीं में उसके सारे दिन बीत जाते थे।

और लोग थे—कि, उन लोगों की सेवा वह जितनी ही जी खोलकर करती थी उतनी ही उनकी फरमाइशें बढ़ती जाती थीं। कभी-कभी कानन मन ही मन ससुरारवालों की इस निष्ठुरता पर चिढ़ उठती थी। वह सोचती—ससुरारवाले भी बड़े निर्दयी होते हैं। दूसरों की बेटी को वे किसी जान-वर से कम नहीं समझते।

किन्तु जब उसे अपनी भाभी का ध्यान हो आता—उसे अपने विचारों पर ग्लानि हो उठती थी। तब वह सोचने लगती—"मेरी भाभी भी तो कभी हमारे घर दुलहिन बनकर आई थीं। उन्हें भी तो मेरी ही भाँति गरमी के दिनों में भी कमरों में ही कैद रहना पड़ता था, वस्त्रों में सिमट-सिकुड़कर घूँघट के अन्दर से झाँककर चलना पड़ता था! यही नहीं, उन्हें तो उठते-बैठते सतत् दहेज के लिये मेरी माँ के व्यंग और ताने ही सुनने को मिलते, भाई-बाप के नाम से गालियाँ मिलतीं,—किन्तु उन्होंने तो इन बातों का कभी बुरा नहीं माना था! एक बार मैं ही उनका पक्ष लेकर माँ से वहस भी करने लगी तो उन्होंने उल्टे मेरी बातों का ही खंडन किया। बोलीं—कन्नो रानी, सास-ससुर की गालियाँ तो आशीर्वाद हैं। वे अपनी वहू-बेटियों को डाँटते-डपटते हैं तो किसी बुरे मन से थोड़े ही! बूढ़ों-पुरानों में तो बोलने का एक रोग होता है,—उनकी बातों का यदि रंज माना जाय तब तो दुलहिन ससुरार में टिक चुकीं!

और मुझे तो यहाँ लोगों के मीठे बोल बटोरने की ही फुर्सत नहीं। अहा, यह भी एक सौभाग्य है!

लोग मुझे कितना चाहते हैं! मेरी सास? अहा, कितनी भली हैं। सामने में तो दो-चार खरी-खोटी सुना देती हैं लेकिन दूसरे के समक्ष वही मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करती हैं, मुझे कुलीन कन्या बताती हैं, अपने भाग्य को सराहती हैं। मेरे नारी

जीवन की इससे बड़ी सार्थकता और क्या होगी ?"

कन्या जब बचपन को खोकर यौवन प्राप्त करती है—उसे तब पिता का घर छोड़कर प्रियतम का घर बसाना पड़ता है। जिस माँ के रक्त-माँस से वह पैदा होती है उसे भुलाकर दूसरे की माँ को माँ कहना पड़ता है। अपने जीवन का सुख लुटा कर जगत को सुखी बनाने की कल्पना नारी-जीवन की कैसी आदर्श साधना है ?

आँसुओं की बाढ़ लेकर डोली में बैठनेवाली दुलहिन के आँसू जब प्रियतम के हाथों से पोंछे जाते हैं तो आँसू के बदले उसके अधरों पर मुस्कान थिरकने लगती है। कन्या को एक ओर उसके सारे नैहर का प्रेम जकड़कर रोक लेना चाहता है, दूसरी ओर एक अपरिचित युवक कहीं से आकर उसकी माँग में चुटकी भर सिंदूर देकर ही उसे अपना बना लेता है—उसके समस्त प्यारों को अपने साथ समेटता जाता है; अद्भुत है नारी-जीवन का यह राज !

कुछ दिनों तक तो कानन को सचमुच ही बड़ी तकलीफ हुई किन्तु दो-चार दिनों में ही माया और मोती से उसकी अच्छी पट गई। दोनों बच्चे दिनभर उसी के पास रहा करते। कानन को भी अपने मन-बहलाव का यह अच्छा साधन मिला। उन बच्चों से अधिक स्नेह देखकर उसके सास-ससुर भी उससे खूब संतुष्ट थे।

उन दिनों अजीत ने भी उसके मन-बहलाव में खूब हाथ

बँटाया था ! पहले पहल कुछ दिनों तक तो कानन से वह खिंचा रहा किन्तु जब परिस्थिति पर गौर किया तो उसे अपना ही अपराध जान पड़ा। कामिनी का व्याह हो चुका था। उसकी याद करना—हृदय में उसके प्रेम को जीवित रखना, सिर्फ अपना और कानन का ही जीवन नष्ट करना नहीं था; बल्कि वह आँच कामिनी पर भी आती। अतः ज्ञान और बुद्धि के बल उसे अपना मन कामिनी से खींच कर कानन में लगाना पड़ा। फिर बीतते हुए दिन के साथ कामिनी की स्मृति भी उसके हृदय से विस्मृत होने लगी।

और जब वह पटना चला गया तो कानन की सारी वासन्ती बहारों को साथ ही समेटता गया।

तब कानन की आँखों में रह गये केवल आँसू। खोई-खोई-सी कानन न मालूम सतत क्यों उदास रहने लगी। लोगों की नजरें बचाकर कभी-कभी रो भी लेती थी। उसका जी उचटा-उचटा-सा रहने लगा। सोने में देरी, उठने में देरी, न खाने-पहनने में रुचि, न हँसना न बोलना, हर काम में कुछ न कुछ त्रुटि रह जाना उसके वश के बाहर की बात हो गई।

माया और मोती भी उसकी वह अवस्था देखकर उससे कम ही उलझने लगे। किन्तु एक सास बहू की ऐसी लापरवाही भला कैसे सह सकती थी? किसी भी सास के लिये नव बधू की ऐसी आदत उसके लिये असह्य होती है। उसने सोचा—उसकी वहू के बदलते हुए स्वभाव का एकमात्र कारण

अजीत का वियोग ही है। बाप रे! आजकल की ये छोकड़ियाँ क्या हुई हैं! चाहती हैं सैंय्याँ सबदिन आँचर में ही छुपा रहे। अजीत भी पढ़ना-लिखना छोड़कर केवल इसका मुँह निहारता रहे तो इसे बड़ा अच्छा।

और जब उससे सहा नहीं गया तो आखिर एक दिन कानन पर वह उबल ही पड़ी—"क्यों बहू, अजीत पटना गया है लेकिन सारा घर तो साथ नहीं ले गया है? यहाँ इतने लोग हैं—हँसते-बोलते, खाते-पीते,—मौज उड़ाते हैं, अपना-अपना काम-धंधा करते हैं, सभी उसके लिये क्यों नहीं रोते? मैं भी तो उसकी माँ हूँ; उसके बिछुड़न का मुझे भी तो दुःख है! लेकिन मैं नहीं रोती! और तुम दो दिन उसके साथ रहीं इतने में तुम्हीं उसकी सबकुछ हो गईं? मर्दों का जीवन तो परदेश में कटता है—तुम कितना रोती फिरोगी? हमलोग भी तुम्हारी उमर में कभी थीं; किन्तु हमलोग तब तुम जैसी कुलक्षणा की तरह दिन-रात घड़ों लोर नहीं चुआया करती थीं। बापरे, यह जमाना कौन आया है!"

किन्तु कानन क्या उत्तर देती। बस, बूढ़ों की वही पुरानी आदत जिससे लाचार होकर वे अपनी बातों को बिल्कुल ही भूल जाते हैं और लड़के-बच्चों की कड़ुवी आलोचना किया करते हैं, अतः कानन भी यही सोचकर मौन रह गई।

सास के बकने-झखने का जब उसपर कोई भी असर न पड़ा तो सास और भी चिढ़ उठी। कानन अपनी आदत से लाचार

थी और नित्य दो-चार खरी-खोटी सुनाने में सास का भी मुँह नहीं थकता—वह भी अपनी आदत से लाचार थी।

एक सास का एक नई बहू से इतना उलझना कर्नल साहब को अच्छा नहीं लगता था। जब-तब अपनी पत्नी को वह डाँट भी बैठते थे किन्तु इसकी प्रतिक्रिया और भी गंभीर होती गई। कानन का स्वास्थ्य क्षीण हो चला था। साथ ही साथ उसकी सास के बोलने का वह रोग भी बढ़ता गया। उस परिवार का वह सुन्दर वातावरण उत्तरोत्तर अरुचिकर होता जाने लगा। कानन अजीत के पत्र कभी-कभी पा लेती थी किन्तु सास के डर से ही उत्तर नहीं भेजती। एकबार पत्र लिखने बैठी भी थी तो मोती ने पढ़ लिया और जाकर माँ से कह दिया—"माँ, भैया को भाभी चिट्ठी भेज रही हैं, लिखा है—मुझे आपके बिना कुछ भी नहीं सुहाता है, दिन-रात बेचैन रहती हूँ, कमसे कम दो-एक दिन के लिये भी आने का कष्ट अवश्य करें।"

बस इतना सुनते ही सास आगबबूला हो गई और पत्र छीन कर फाड़ती हुई बोली—"देखती हूँ, यह चुड़ैल अजीत को पढ़ने-लिखने भी नहीं देगी। अभी महीना-डेढ़ महीना भी नहीं हुआ है कि बुलावे की चिट्ठी जाने लगी। वह पढ़ेगा क्या कप्पार! जब देखो तब हाय सैय्याँ कि हाय सैय्याँ! चाहती है हरजाई कि अजीत सब कुछ छोड़कर केवल इसका मुँह ही निहारता रहे—इसका रूप धो-धोकर पीये। यह सब उसीका किया

हुआ है। इसे इतना विगाड़ दिया है कि देखना एक दिन उसी के सिर पर चढ़कर यह नाचेगी।"

कानन का हृदय टूट कर रह गया। सास के ही द्वारा उसका प्रणय-पत्र फाड़कर फेंक दिया गया—यह कैसा अशुभ ! मन में वह सोचने लगी—क्या बड़े-बूढ़ों को ऐसा भी करना चाहिये ?

और उसे लगा जैसे चारों ओर से सहस्र नुकीले तीर आ-आकर उसके शरीर में चुभ रहे हों। वह आँसू बहाने लगी।

परिस्थितियों का सामना जो व्यक्ति चतुराई से नहीं करता और दुष्परिणाम पर आँसू बहाता है सिर धुनता है उससे बड़ा मूर्ख संसार में और कोई नहीं होता। आज की दुनिया में ऐसे मूर्खों की कमी नहीं है।

जब सास बहू को डाँटती है तो नासमझ ननद-देवरों को भौजाई की अदना से अदना शिकायत भी माँ के पास पहुँचा देने में बड़ा आनन्द आता है।

अतः माया और मोती भी कानन के पीछे पड़ गये। कानन की प्रत्येक शिकायतें चाहे झूठ हों या सच, उसकी सास के पास नमक-मिर्च मिलकर पहुँचने लगीं। यदि वह अभियोग का प्रतिवाद भी करती तो उसकी सास झनककर वोल उठती— "ये छोटे-छोटे दूध-मुँहे बच्चे झूठ बोलते हैं—सत्यवादी राजा-हरिश्चन्द्र के अवतार तो एक तुम्हारे बाप ही थे ?" न मालूम और भी इसी तरह की कितनी ही बातें बोल जाती थी।

कानन के पास और कोई उपाय नहीं था; बैठकर केवल मौन आँसू बहा लिया करती थी। और जब उसकी सास उसे कोसते-कोसते उसके भाई-बाप तक पहुँच जाती थी तो कानन के लिये यह असह्य हो उठता था। तब भीतर ही भीतर क्रोध से वह जलने लगती थी--मेरे भाई-बाप ?--जिन्होंने मेरे सुख की कामना के लिये धरती-पहाड़ एक कर दिया, राजा से रंक बन गये, कभी एक लोटा पानी तक भर लाने के लिये मुझसे नहीं कहा, उनको भी ये क्षुद्र जीव कोस लेते हैं ! भैया ने मेरे ब्याह में कितनी उदारता दिखाई ! भाभी के गहने तक बेच डाले; लेकिन समधी के मुँह पर शिकायत की सिलवटें नहीं पड़ने दिया। और उसकी बहन की आज यह दशा ? मैं तो समझूँगी—भगवान ही मुझसे रुष्ट हैं, इनलोगों का कोई दोष नहीं। जिस व्यक्ति के सिर से भगवान की छाया उठ जाती है—वह तब राक्षसों के अत्याचार का शिकार बन जाता है।"

कानन सास की घुड़कनों और तानों से मर्माहत होकर जब रोने लगती थी तो कर्नल साहब के स्नेह और पुलकारों से थोड़ी बहल जाती थी। कर्नल साहब अपनी पत्नी के इस दुर्व्यवहार से उससे चिढ़े रहने लगे।

उन्होंने उसे लाख समझाया लेकिन मूर्ख नारी अपनी राह पर अटल रही। अन्त में एक दिन एकान्त में बुलाकर उन्होंने पत्नी से कहा—"बहू में तुम कौन सी ऐसी कमी पाती हो जो

चौबीसो घंटे तुम उनसे उलझी ही रहती हो? नई बहू से इतना अधिक उलझना क्या तुम्हें शोभा देता है? वह तो हैं जो सह लेती हैं, यदि क्रोध में आकर दो-चार बातें तुम्हें भी उलटाकर कह दें तो तुम्हारी हेठी कहाँ रहेगी? यह तो गनीमत समझो कि उच्च घराने की कुलीन कन्या हैं सो सह लेती हैं। दूसरों की बहुओं को तो देखो सास की कैसी पूजा करती हैं! तुम भी वैसा हो चाहती हो क्या?"

और तब अजीत की माँ ने उत्तर दिया—"मैं उसे कहती ही क्या हूँ; उसी की भलाई के लिये हेती-जेती के दो उपदेश देती हूँ। उसे किस चीज की कमी है जो दिन-रात आँसू बहाती रहती है? लोग भी क्या कहते होंगे कि सास उसे तकलीफ देती है तब न दिन-रात रोती रहती है बेचारी!"

"अच्छा, तो तुम्हें भी लोक-निन्दा का ध्यान है? तभी न तुम दूसरों की बेटी को दिन-रात रुलाती रहती हो!"—कर्नल साहब ने व्यंग किया।

"मैं काहेको रुलाऊँगी उसे। उसे तो बात-बात पर रोने की आदत-सी है!" सास ने खण्डन किया। फिर बोली—"मुझे उससे और कोई चिढ़ नहीं; लेकिन हमेशा मनहूस की तरह उसे उदास देखकर मेरे तलुवे में लहर बलने लगती है।"

"क्यों न, बेचारी को तुम्हारी जैसी दयावान सास जो मिली है!"

अजीत की माँ पति के व्यंगों पर चिढ़ उठी। बोली—

"हाँ, आप कहेंगे क्यों नहीं, आप ही दोनों बाप-बेटे ने तो इसे इतना बिगाड़ रखा है। मुझे क्या ? आप लोगों को बुरा लगता है तो लीजिये आज से मैं कान पकड़ती हूँ जो एक शब्द भी आप की लाड़ली को कहा। लेकिन मेरी बात अच्छी तरह कान में खोंस रखिये —एक दिन आप लोगों के सिर पर चढ़कर यह नाची नहीं तो कहियेगा।"—और नयन के गढ़े कोरों में नारी-सुलभ-अश्रु भरकर सिसकने लगी।

"हाँ-हाँ, देखिये देवी जो, कहीं भागीरथी ही न उमड़ पड़ें, वरना हम लोग बह जायेंगे।" कर्नल साहब के शब्दों में व्यंग और मजाक समान रूप से मिश्रित थे।

अजीत की माँ झुँझला कर बोली—"आप हँसते हैं, हँसिये, मैं कहे देती हूँ—अच्छी तरह कान में खोंस कर रखिये—आपकी लाड़ली में मुझे और तो नहीं कुछ, लेकिन कुलक्षणा के लक्षण दिखाई पड़ते हैं।" उसकी आवाज में दृढ़ता थी।

और कर्नल साहब ने हँसकर तीर छोड़ा—"अहा, देखो तो इस सुलक्षणा के मुँह से कितने मधुर शब्द चू रहे हैं !"

× × × ×

अजीत का उस वर्ष एम० ए० का फाईनल था। किसी परदेशी को अपनी प्रियतमा का कितना वियोग होता है—इसकी उसने पहले कभी कल्पना तक न की थी। किन्तु इस वार जैसे ही वह घर से निकला उसे अनुभव हुआ जैसे उसके हृदय का कोई अटूट अंग घर में ही छूट गया हो। स्टेशन

जाकर जब गाड़ी पर चढ़ा और गाड़ी छूटी तो उसे लगा कि कोई उसे जबर्दस्ती खींच कर किसी अज्ञात देश में ले जा रहा हो। पटना पहुँचकर दो-तीन दिन के बाद ही उसने कानन को पत्र लिखा और उत्तर की प्रतीक्षा में कानन के अनेक रूप-चित्रों की मधु कल्पना करता रहा।

हफ्ता बीता, पखवारा बीता—किन्तु कानन के उत्तर नहीं आये। उसने सोचा—शायद पत्र गुम हो गया होगा, कानन को मिला ही नहीं। यदि मिला होता तो पत्र का उत्तर वह अवश्य भेजती। अतः उसने फिर दूसरा पत्र लिखा लेकिन उसका भी जवाब नहीं लौटा। इस तरह उसने अनेक पत्र डाले और उत्तर की प्रतीक्षा में नित्य धड़कते हुए हृदय से नया डाक देखता,–डाकिये से पूछता किन्तु उत्तर में उसे निराशा ही मिलती। कभी-कभी वह कानन की इस चुप्पी पर एक कड़ी चिट्ठी लिखने का विचार करता।

और कानन ?—प्रणय-पत्र की वह दुर्दशा एकबार देखकर फिर कभी पत्र लिखने के नाम पर उसने कान पकड़ लिया था।

मनुष्य के जीवन में बहुत-सी छोटी-छोटी भूलें ऐसी भी हो जाती हैं जिनकी वजह से भविष्य में उसे महान से महान क्षतियाँ उठानी पड़ती हैं। वस्तुतः मनुष्य का यह छोटा-सा जीवन भूलों से भरी एक बामी है जिससे कभी-कभी विषधर सर्प भी निकल आते हैं।

कामिनी के बिछुड़न का घाव अजीत का अभी भरा भी

नहीं था कि कानन के वियोग ने उसे पुनः खरोंच दिया। भरता हुआ घाव पुनः हरा हो गया।

अनेक पत्र देने पर भी जब कानन का कोई उत्तर नहीं आया तो कानन को एक बेवफा नारी की संज्ञा देकर उसने उसे पत्र लिखना ही छोड़ दिया। किन्तु अभावों से भरा अजीत का वह भावुक हृदय रह-रहकर चिल्ला उठता—"आह! मैं उसके लिये कितना बेचैन और व्यथित हूँ—वह समझ नहीं पाती। अगर समझती होती तो अवश्य पत्र लिखती। ना, उस मूर्ख लड़की को तनिक भी अपने कर्त्तव्य का ध्यान नहीं। व्यक्ति कर्त्तव्य पूरा कर लेने के बाद अपना अधिकार ढूँढ़ता है और अपेक्षित अधिकार की प्राप्ति कर कर्त्तव्य करने की नई प्रेरणा पाता है; किन्तु मैं क्या करूँ? केवल कानन के लिये ही मैंने कामिनी को भुलाना चाहा था। अहा! कामिनी? जिसने अनजाने ही मेरे जीवन में प्रवेश कर भावनाओं की आँधी ला दी थी, मेरे स्वप्न-लोक को नई-नई रंगीन कल्पनाओं से भर दिया था, उसमें एक दिव्य आलोक बिखेर दिया था। मेरे हृदय के भावों को वह भली भाँति समझ लेती थी। उसे अपने कर्त्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान था और अपना अधिकार माँगने में भी कभी चूकती नहीं थी। किन्तु आह! उसे मैं अपना न सका।"—और धीरे-धीरे अजीत के हृदय में कानन के प्रति घृणा होने लगी।

× × × ×

एक दिन कर्नल साहब संध्या की सैर से लौट रहे थे। नया घोड़ा था—देखने में बड़ा ही सुन्दर, चाल में बहुत तेज और स्वभाव का बड़ा ही सीधा, चतुर और चंचल था। वैसे घोड़े पर सवार होते समय उन्हें चाबुक की आवश्यकता नहीं पड़ती थी—बस, इशारा ही उसके लिये काफी था। ग्रीष्म-कालीन संध्या में चुननदार सफेद बारीक मलमली कुरता पहनकर जब वह ताँगे पर सवार होते और घोड़े की रास अपने हाथों में लेते तो घोड़ा हवा से बातें करने लगता था। ऐसे उड़न-बछेड़े पर सवार होकर वह आकाश में उड़ने लगते थे। कभी अपनी लम्बी-लम्बी मूँछों पर हाथ फेरते, कभी बछेड़े को ललकारते और कभी अपने क्रय-कौशल की निपुणता की दाद देते। घोड़े का नाम भी रखा था उड़न-बछेड़ा।

उस दिन वह कुछ अधिक भंग चढ़ा गये थे। संध्या का अंधकार सघन हो चुका था। गाँवों में दीप जल चुके थे। कर्नल साहब भी घर की ओर लौटे। उनका उड़न-बछेड़ा घर की राह में हवा से बातें करने लगा।

और उस बछेड़े की उड़ती हुई टापों के साथ कर्नल साहब का भी मन उड़ रहा था। जोश में भरकर घोड़े को एकबार और ललकारा। घोड़ा बेहताशा भागा। देहात की कच्ची सड़क थी। धूलों की आँधी उड़ने लगी। अचानक उनकी दृष्टि सामने की एक बैलगाड़ी पर पड़ी जिसपर लम्बे-लम्बे बाँस लदे थे। गाड़ी इतनी नजदीक पहुँच चुकी थी कि बाँसों

के अगले नुकीले भाग घोड़े के कलेजे में धँस ही जाते यदि वह विद्युत गति से घोड़े की बाँई रास जोरों से खींच नहीं लेते। घोड़ा तो बच गया किन्तु कर्नल साहब एक भयंकर झटका खाकर सड़क के नीचे खन्दक में जा गिरे। ताँगे की रफ्तार इतनी तेज थी कि घोड़ा के मुड़ते समय ताँगे का चक्का उखड़ गया। गनीमत यह हुई कि घोड़ा काफी सबल था अन्यथा ताँगे को नहीं सम्भाल पाने से ताँगा लेकर वह भी खन्दक में जा गिरता। घोड़ा हाँफता हुआ कुछ दूर जाकर रुक गया। किन्तु कर्नल साहब खन्दक में घायल पड़े कराहने लगे। उस गाड़ीवान को इस दुर्घटना का आभास तत्क्षण मिला और उसी ने उन्हें घर पहुँचाया।

उनकी यह दशा जब गाँव और घरवालों ने देखी तो वे सन्न रह गये। सारे घर में एक अजीब चिंता और घबड़ाहट छा गई। सभी उनके उपचार में लग गये। सबों का मुँह सूख रहा था। सारे गाँव में जगह-जगह इसी दुर्घटना की गर्म चर्चा थी। रोशनी के तेज प्रकाश में भली भाँति देखने से ज्ञात हुआ कि उनके सिर में काफी चोट लगी है तथा एक हाथ टूटा-सा प्रतीत होता था। कमर के नीचे दाहिनी जाँघ में भी अधिक चोट लगी थी।

भी चिढ़ने लगी। वह उससे घृणा भी करने लगी तथा सर्वदा उसे शंका और भय की दृष्टि से देखने लगी। "वह कुलक्षणा है" सास की यह धारणा इस घटना से और भी पुष्ट हो गई।

कानन को कभी भी यह आशा नहीं थी कि उसकी वह सास जो कभी उसे अपने कलेजे में छिपाकर रखना चाहती थी—कुछ ही बदले दिनों के साथ इस भाँति बदल जायगी कि वह उसकी छाया तक से घृणा करने लगेगी ? उसकी दृष्टि को अशुभ समझकर अनेक बार "हरे-राम, हरे-राम" कहकर अमंगल का निवारण करेगी ?

वह सोचने लगी—"क्यों नहीं, दुर्दिन में जब पकाई हुई मछली भी पानी में तैरकर भाग सकती है तब अपनों का प्यार यदि घृणा में ही बदला तो आश्चर्य क्या ?"

एक बेचारे ससुर का सहारा था उसे तो वह भी पंगु होकर मौन हो गये। पहले की वह रूआब और पहले जैसी प्रसन्नता अब उनके मुँह पर नहीं थो। पहले तो कानन को थोड़ी-सी भी बात कहने पर वह अपनी पत्नी को हजार डाँटें बताते थे; किन्तु अब उनमें डाँटने की वह शक्ति भी नहीं थी। एक लोटा पानी के लिये जब उन्हें दूसरों का मुँह ताकना पड़ता था तो उनका स्वाभिमान टूक-टूक होकर मौन आँसू बहाने लगता था।

घरवालों ने इस दुर्घटना का सम्वाद अजीत को नहीं दिया। उनकी समझ में इसकी सूचना देकर उसकी चिंता और

परेशानियों को बढ़ाकर उसकी पढ़ाई में बाधा पहुँचाना था।
माँ ने एक बार कहा भी कि अजीत को इसकी खबर दे देनी चाहिये—लेकिन कर्नल साहब ने यह कहते हुए टाल दिया कि जो होना था सो तो हो गया; यहाँ आकर वह अब करेगा ही क्या? इतने रुपये उसकी पढ़ाई में खर्च हो रहे हैं—इधर-उधर करने से कहीं फेल हो गया तो बस, सारा गुड़ गोबर!

कर्नल साहब की इस दुर्घटना का समाचार जब कमल को मिला तो उन्हें देखने के लिये वह आया। ब्याह में जो कानन के संग आया था—तबसे यह पहली ही बार उसने कानन को देखा। कानन से भेंट करने गया तो कानन भाई के पैर पकड़ कर खूब रोई। उसके करुण क्रन्दन ने कमल के कलेजे को कँपा दिया। और जब बहुत मनाने पर वह चुप हुई तो बहन के मुरझाये सौन्दर्य, उसकी उदास आँखें और उसका वह जीर्ण स्वास्थ्य देखकर कमल के पुरुष-नेत्रों से भी आँसू बहने लगे। उसकी इस दुर्दशा का कारण उसने कानन से अनेक बार पूछा लेकिन उत्तर में वह केवल आँसू ही बहाकर रह जाती थी।

कमल का हृदय क्रोध से जल उठा—"आह, जिस फूल-सी सुकुमार बहन की सुख-सुविधा के लिये मैं भिखारी बन गया,—उस बहन की आज मेरे रहते यह दुर्दशा!" उसे कानन के ससुरारवालों पर बड़ा क्रोध आया। उसके मन में आया कि इन्हें कड़ी फटकारें सुनाऊँ; किन्तु सुनाता किसे? मनुष्य मनुष्य से बातें करता है, किन्तु जहाँ केवल पशु ही

पशु हों वहाँ बातें किससे की जायँ ?

फिर जब रो लेने से कानन के व्यथित हृदय का बोझ कुछ हल्का हुआ तो उसने एक-एक कर अपने बदले हुए दिनों का सारा वृतांत भाई से कह सुनाया।

कानन की सास का वैसा अनुचित व्यवहार देखकर कमल को लगा जैसे वह घर कोई राक्षसों का बसेरा हो। ऐसे स्थान में अपनी बहन को वह क्षणभर भी अधिक रहने नहीं देना चाहता था। उसने कर्नल साहब के सामने विदागरी का प्रस्ताव रखा तो प्रस्ताव सहर्ष स्वीकृत हो गया। कर्नल साहब को तो कोई आपत्ति थी नहीं। रही सास—सो तो वह स्वयं ही सारे घर पर शासन करती थी। और वह तो यह चाहती ही थी कि कानन उसकी नजरों से जितनी जल्द हो सके दूर हो जाय। यदि उसे अपनी फाँसी का भय नहीं होता तो कब का ही वह कानन को विष खिलाकर मार डाली होती। यदि उसे लोक-निन्दा का डर नहीं होता तो उसे नैहर भेज दी होती।

कानन भाई के साथ ससुराल से विदा होकर नैहर आई। नैहर में पैर रखते ही उसने अनुभव किया—जैसे उस विषाक्त वातावरण से निकलकर इस खुली हवा की स्वच्छ और शीतल साँस ले सकी हो वह। कमल को अजीत से भी घृणा हो आई थी। उसके पढ़े-लिखे बहनोई के रहते उसकी बहन की वह दुर्दशा ? वह सोचता—"यदि दुर्भाग्यवस आज वे इस दुनिया में नहीं रहें तो मेरी बहन की क्या गति हो ?—आह, कल्पना के बाहर

की बात है।" अपने बहनोई की कर्त्तव्यहीनता पर चिढ़ उठा वह। उसने निश्चय किया—"जब तक मेरी नाकों में साँस रहेगी मैं अपनी दुलारी कानन को इस भाँति तिरस्कृत और कुंठित होने नहीं दूँगा। मैं अब किसी के पैरों पड़ने नहीं जाऊँगा। मेरे सद्व्यवहारों का यह बदला! मेरी कानन दीपक का शीतल प्रकाश है। यदि अजीत को उस प्रकाश की आवश्यकता होगी तो वह स्वयं आकर उसकी अर्चना करेंगे।"

दो-चार दिनों में ही कानन ने अपने भाई में आये हुए उन परिवर्त्तनों का अध्ययन कर लिया। सोचने लगी—"यदि इस समय अपनी बुद्धि से काम नहीं लिया तो फिर परिस्थिति और भी जटिल हो जायगी।"

अतः उसने अजीत को एक लम्बा पत्र भेजकर सारी बातों का उल्लेख स्पष्ट रूप से कर देना चाहा। और जिस दिन वह पत्र अपने ही हाथों से उसने लेटर-बक्स में डाला उसे एक अपूर्व शान्ति मिली।

(६)

किशोर कोई धनी घर का लड़का नहीं था। अतः विवाह के कुछ ही दिनों बाद आर्थिक अभाव के कारण उसे पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी और जीविकोपार्जन के लिये पूरब के किसी

शहर में नौकरी करने के लिये चला जाना पड़ा।

किशोर अध्ययनशील और चिंतनशील युवक था। संस्कार और शिक्षा का उसपर विशेष प्रभाव पड़ा था। विद्यार्थी-काल में वह केवल एक विद्यार्थी ही रहा; और जब विवाह हुआ तो पूर्ण गृहस्थ बन बैठा। उसने आज तक जो शिक्षा पाई थी उसका अभ्यास भी करना सीखा था। उसके जीवन के कुछ ठोस सिद्धान्त थे—"मनुष्य अधिकार और कर्त्तव्यों के संगम पर ही सामाजिक जीवन के सुन्दर सुखोंका उपभोग कर सकता है। अपने ही सुख–दुःख के मापदण्ड पर दूसरों के भी सुख-दुःख को तौलना मानव का सबसे बड़ा धर्म है।"

उसमें स्वाभिमान और संकोच की मात्रा भी अधिक थी। उसका कहना था—"मनुष्य को अपना कर्त्तव्य करते जाना चाहिये। उसे अपने कर्त्तव्य का उचित मूल्य मिलता है कि नहीं यह उसके देखने का विषय नहीं। अधिकार पाने की इच्छा रखते हुए भी उसके लिये कभी मचलने की प्रवृत्ति उसमें नहीं थी। संसार के सारे झंझटों को अपने सिर पर लादकर इस अल्प उम्र में ही वह किसी वयोवृद्ध की भाँति गंभीर हो गया था। उसे देखकर ही लोग कह उठते थे—"यह आम समय के पहले ही पक गया है।"

विवाह के पहले कई वर्षों तक कालेज में पढ़ते रहने पर भी उसके जीवन में किसी लड़की का कोई विशेष स्थान नहीं रहा

और न तो कभी उसने इसकी आवश्यकता ही समझी थी। सच पूछा जाय तो उसके जीवन में माँ-बहन के अतिरिक्त किसी अन्य नारी की मोहक छवि का कोई चित्र ही न उतरा था। लता से उसकी शादी हुई; फिर भी उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। किन्तु उस दिन लता की आँखों में आँसू देखकर उसके प्रति उसकी अपार सहानुभूति जग उठी थी। उसने अनुभव किया जैसे लता उसके जीवन में आकर उसके हृदय का एक अटूट अंग बन गई हो। वह उसकी है और किशोर उसका है; संसार का यह सत्य कितना ठोस और चिरंतन है! लता पर उसका आधिपत्य है और लता को उसपर अधिकार है—अहा, इसी आधिपत्य और अधिकार का सम्मेलन जब सम भाव से होता है तो मानव का वह जीवन कितना सुखी और सुन्दर होता है!

उस प्रथम मिलन में ही किशोर को लता के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय मिल चुका था। शहरी वातावरण में पला एक पढ़े-लिखे युवक के लिये लता कहाँ तक उपयुक्त थी—किशोर इसे भली भाँति समझता था। किन्तु वैसी पत्नी के साथ कोई पति कैसा व्यवहार कर एक चतुर गृहस्थ बन सकता है; यह भी वह भली भाँति जानता था।

दम्पति के किसी भी प्राणी की तनिक-सी भी असावधानी सुखमय दाम्पत्य को नरक-तुल्य हेय बना देती है,—उसे विषम रस से भर देती है। जुए का एक सबल बैल यदि तनिक अधिक

जोर लगा दे तो दूसरे दुर्बल बैल को कुछ राहत मिलती है।

और उधर थी लता—बालक-सी अबोध, लता-सी अल्हड़ और सागर की लहरों की भाँति ही चंचल और लापरवाह। "मैं धनी माँ-बाप की बेटी हूँ; तथा वे मेरे पति को रुपयों से खरीद कर लाये हैं, अतः मुझपर रोब जमाने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। वह बहुत पढ़े-लिखे हैं, वह मुझे प्यार करते हैं,—तो यह मेरा सौभाग्य है,—मुझे इसका अधिकार प्राप्त है।"—इन्हीं बातों का उसे कुछ अभिमान-सा हो गया था। उसे अपने मनोनुकूल बनाने के लिये जब भी किशोर ने कुछ कहा—सर्वदा उसे व्यर्थ का उपदेश समझकर इस कान से सुन उस कान से निकालती गई। बीड़ी पीने की उसकी वह गंदी आदत किशोर को, बहुत खलती थी। उसने उसे लाख समझाया—सौगन्ध दिलायी और लता ने भी छोड़ देने की प्रतिज्ञा किशोर के मुँह पर अनेक बार की किन्तु फिर भी वह अपनी प्रतिज्ञा का पालन न कर सकी। इस सम्बन्ध में किशोर का कुछ भी बोलना उसे बुरा लगता था। इसे वह पुरुषों का अत्याचार समझती थी। उसकी मोटी बुद्धि में केवल एक ही बात जमकर जड़ पकड़ गई थी कि बीड़ी पीना कौन-सी बुरी आदत है। यहाँ तो सभी पीते हैं; तो क्या ये सारे के सारे लोग बुरे हैं? यदि मैं बुरी हूँ तो मेरे माँ-बाप ने आजतक मुझे समझाया क्यों नहीं? और फिर मर्द जो पीते हैं! यदि बीड़ी-हुक्का पीना

सचमुच ही बुरा है तो ये सारे बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोग भी क्यों पिया करते हैं ? ब्याह में जब बारात आई थी तो उतनी सारी बीड़ी-सिगरेट खरीदी क्यों गयी थी ? मेरे भैया पीते हैं; लेकिन भाभी तो नहीं पीतीं ! किन्तु वह भैया को क्यों नहीं खराब कहती हैं ! यदि मैं नहीं पीती और वे ही पीते होते तो भला मैं उनका क्या बिगाड़ लेती ? वह चाहते हैं कि मैं पढ़ना-लिखना सीखूँ, दिन-रात किताबें बाँचती रहूँ; लेकिन मेरे पढ़ने-लिखने से होगा क्या ? औरतों को तो घर में ही रहकर चूल्हा-चक्की पूजना पड़ता है। उन्हें कौन पुरुषों की भाँति ही परदेश जाकर बाबू बनना पड़ता है;—दिन-रात कुर्सियाँ तोड़नी पड़ती हैं। यह सब कुछ नहीं; मर्द औरतों पर खूब ही रोब जमाना जानते हैं; अतः वह भी मुझे व्यर्थ ही परेशान करना चाहते हैं। लेकिन मैं उनकी सुनूँगी ही नहीं, क्या बिगाड़ लेंगे मेरा ! यही न, कि दो बातें सुनायेंगे; सुन लूँगी।"

किशोर जब तक लता के साथ रहता उसे उसमें केवल अभावों का ही ढेर मिलता। उसका मन घृणा से ऊब उठता था। उसके लाख समझाने पर भी जब लता पर कोई प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं पड़ा तो वह अपना ही सिर धुनकर रह गया।

किन्तु ज्योंही वह लता से विलग होता—लता की वह भोली सूरत, मूक भावों से भरी वे काली-काली आँखें, सलज्ज चित-वन का वह सरल परिहास और उसके प्रणय-निमंत्रण बार-

बार उसे अपनी ओर खींच लेना चाहते थे। किशोर ने लता का अध्ययन लाख करना चाहा किन्तु मानव-चरित्र के अध्ययन का शौकीन किशोर एक गँवार लड़की के ही चरित्र का कोई निश्चित निर्णय न कर सका। उसे लता एक पहेली-सी जान पड़ी। उसका वह रसिक मन सतत तरसता रहता कि एकान्त में आकर लता उससे प्रणयालाप करे, एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व लेकर उसके पास आवे, उसके हृदय के प्रत्येक भाव को सहज ही समझने का प्रयत्न करे और उसके सिरहाने में बैठकर उसके बालों को सहलाये—हँसे और हँसाये। किन्तु लता के पास यह कला कहाँ? उसमें केवल भावों की अनुभूति थी—अभिव्यक्ति नहीं।

किशोर कभी-कभी अपना अधिकार ढूँढ़ने के लिये व्यग्र हो उठता था लेकिन दूसरे ही क्षण वह सोचने लगता—अरे, अपना यह अधिकार मैं माँग किससे रहा हूँ? उससे—जो स्वयं अबला है और अपने अधिकार के लिये पुरुषों का मुँह ताकती है? यदि उससे भी मैं अधिकार ही माँगूँ तो फिर पुरुष और नारी में अन्तर ही क्या रह जायगा? लता और पेड़ नाम की दो पृथक वस्तुओं को संसार जानेगा कैसे? आह, मैं भी अजब मूर्ख हूँ!

और तब बिछुड़न के समय का सिसकता हुआ लता का वह मुरझाया चेहरा उसके सामने आपसे आप अंकित हो उठता था। जब वह नौकरी पर परदेश जाने लगता उस

दिन लता केवल मौन आँसू बहाती रहती थी। जैसे मालूम होता था कि दीये का समस्त तेल निचोड़कर निकाल लिया गया हो और तब सूखी बाती मलिन प्रकाश में केवल बाती ही बाती जल रही हो। ऐसे ही विरह के कुछ दृश्य किशोर के भड़कते हुए उस चंचल मन को बाँध कर रख लेते। एक और भी बात थी,—लता किशोर के सहवास में मुँह से बहुत कम ही बोलती थी—दोनों प्राणियों में केवल मौन संकेतोंका ही व्यापार चलता रहता। किशोर भी गंभीर स्वभाव का युवक था अतः पत्नी से अधिक उलझना वह भी पसन्द नहीं करता था और इन्हीं कारणों से लता के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय कभी उसे मिला ही नहीं। जब वह लता के पास होता तब उसकी कल्पना की सुन्दरी और लता में जमीन-आसमान का अन्तर होता, किन्तु जैसे ही उससे बिलग होता—लता उसकी कल्पना-सुन्दरी का रूप धारण कर उसके स्वप्न-लोक को सजाने लगती, उसके जीवन में रस और माधुरी उड़ेलकर उसे छेड़ने लगती।

इसी भाँति परदेशी और उसकी प्रियतमा के मिलन और बिछुड़न उस दम्पति के जीवन-आकाश में घटाओं के बीच से चाँदनी बरसाते और चाँद को चकोरों से छीनकर पुनः घटाओं के व्यूह में कैद कर देते।

विवाह से ही किशोर और कला में घनिष्टता हो गई थी। कला के हृदय में किशोर का सम्मान था और किशोर को

वह चाँद की कला-सी ही शीतल, राका की रजनी-सी ही सुन्दर और पहाड़ी प्रपातों के प्रवाह-स्वर की भाँति ही संगीतमय प्रतीत होती थी। निर्मल हास्य लिये हरिणी जैसी चंचल आँखोंवाली कला जब किशोर के समक्ष उसका मनोविनोद किया करती तो उसे लगता था जैसे कोई आकाश-परी उसके जीवन के सूने क्षणों में कलात्मक राग भर रही हो। तब वह कला का कृतज्ञ हो उठता था और कला उसके हृदय में एक उच्च आसन ग्रहण करती जा रही थी।

दो-तीन वर्ष बीत गये। दोनों का यह मधुर सम्बन्ध निर्मल और निश्छल भाव से पनपता गया। अनेक विषयों पर तर्क-वितर्क करने के लिये कला किशोर को एक अच्छा साथी मिल जाती थी। वह पढ़ी-लिखी थी, किशोर के हृदय के भावों को वह भली भाँति समझती थी,—उसके तर्कों और सिद्धान्तों को आदर्श समझती थी। उसे किशोर एक महान व्यक्तित्ववाला पुरुष जान पड़ता था।

कला किशोर की ज्ञानपूर्ण बातों को सुनती रहना चाहती थी और किशोर उसे अपनी ओर प्रभावित देखकर कुछ न कुछ सुनाते ही रहना चाहता था। अन्त में दोनों की घनिष्टता इस हद तक पहुँच गई कि डाही लोग काना-फूसी भी करने लगे। यहाँ तक की वसंत के भी कान खड़े हो गये। अनुचित शंकाओं ने उसमें बुरी तरह घर कर लिया था। अतः किशोर से वह खिंचा-खिंचा रहने लगा। बात-बात पर कला को वह

झिड़कियाँ सुनाता और यदा-कदा दो-चार लात-मुक्के भी लगा देता। किशोर को उसके अन्तर्गत भावों का आभास मिल चुका था किन्तु वसंत की हर क्रिया को केवल मूर्खता की संज्ञा देकर वह रह जाता था।

किन्तु लता और लता की माँ इन उटपटांग शंकाओं से मुक्त थीं। लता अपने पति का इतना प्यार पाती थी कि उसके चरित्र पर संदेह करना वह पाप समझती थी। उसकी मोटी बुद्धि में केवल एक ही तर्क बैठा था कि यदि उसके पति और उसकी भाभी में कोई अनुचित सम्बन्ध होता तो फिर उसके और किशोर के बीच का वह स्नेह-बंधन उतना पवित्र कैसे रह जाता! क्या कोई भी पुरुष दो नारी को समान रूप से प्यार कर सकता है?

वह सोचती—"और फिर भाभी और उनमें ऐसी बात ही क्या है जो दुनियावाले झूठ-मूठ परेशान हो रहे हैं! क्या किसी से-हँसना बोलना भी पाप है? वाह री दुनिया! दूसरों के सुख और सौंदर्य से जलने की यह आदत तो उसकी पुरानी है। यदि हम दोनों के प्यार में तनिक भी अन्तर पड़ा होता तब न मुझे भी शंका करने की जरूरत पड़ी होती! किन्तु जब ऐसी कोई बात ही नहीं है तो व्यर्थ ही मैं इस चक्कर में क्यों पड़ूँ; उनके दिल को क्यों दुखाऊँ?"

लता की माँ भी लता और किशोर के जीवन को उस भाँति सुखी देखकर किशोर और कला के बारे में सरहज और

ननदोई का एक सरस सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचती थी। और न तो शंका और संदेह का उसके पास कोई आधार ही था।

कला पर वसंत का अत्याचार ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा किशोर की सहानुभूति कला पर उतनी ही बढ़ती गई। मृदुहास लिये उस फूल-सी कोमल नारी के हृदय में कितनी व्यथा भरी थी इसका वह पार नहीं पा पाता। वह बार-बार उसकी पीड़ाओं को समझना चाहता, उसके कष्टों को देखकर उसका हृदय करुणा से भर उठता। वह सोचता—यह मूक नारी अवश्य ही अपने हृदय में कोई ज्वाल-पुञ्ज छिपाये बैठी है जिसकी ज्वाला से इसका फूल-सा सुकुमार चेहरा दिन-दिन झुलसता जा रहा है,—समय के पहले ही सूख रहा है।

किन्तु जब वह किशोर के सामने आती—बस, अपनी आदत के अनुसार वह किशोर का स्वागत मधुर मुस्कानों से ही करती।

और किशोर इस अद्भुत नारी को देखकर ठगा-सा रह जाता। तब वह मन ही मन बोल उठता—अहा, यह भी नारी का एक रूप है—कितना शान्त, कितना सरल! मालूम होता है—उजड़े संसार को बसाने के लिये मंगलमयी नारी का यह कल्याणकारी रूप इस भूतल पर कहीं स्वर्ग से उतर आया हो। किन्तु आह, संसार के क्षुद्र जीव उसकी कद्र करना नहीं जानते!

दिन-दिन वसंत किशोर से खिचता जा रहा था। पहले तो किशोर ने इसपर ध्यान नहीं दिया किन्तु जब देखा कि अब वह पग-पग पर वसंत के द्वारा अपमानित और तिरस्कृत होने लगा तो वह भी सतर्क हो गया। वसंत किस भाँति उसकी निन्दा-शिकायत इधर-उधर या अपने ही माँ-बाप के सामने किया करता था—लता के द्वारा उसे मालूम हो जाता था। कई बार उसकी सास और साले वसंत में इन्हीं बातों के लिये झगड़ा भी हो गया था। किन्तु वसंत के अतिरिक्त सारा परिवार किशोर के ही पक्ष में था।

एक बार की बात है। किशोर के लिये ससुरार में होली खेलने का यह प्रथम ही अवसर था। उससे हँसी-मजाक करने वालों ने तरह-तरह के मनसूबे बनाकर रखे थे—कि कैसे रंग डाला जाय, किस प्रकार पान में रंग डालकर खिलाया जाय कि वह समझ न सकें, पीठ की कमीज में किस प्रकार 'मूर्ख-पत्र' चिपकाया जाय कि वह जानने न पाये और जो लोग पढ़ें खूब हँसें तथा रात में लता के रूप में कोई उस्ताद सरहज उसके कमरे में जाकर उसे खूब छकाये,—इत्यादि, इत्यादि।

दिन का भोजन कर लेने के बाद ही बच्चों की टोली रंग और पिचकारी लेकर 'पाहुन' से रंग खेलने के लिये आ धमकी। छोटे-छोटे बच्चों को रंग डालने की इच्छा देखकर वह आँगन में निकल आया और उन बच्चों से खूब रंग लिया तथा प्यार से उन्हें भी भिगोया।

इसके बाद बड़े सालों की बारी आई और वे भी थोड़ा-बहुत रंग खेलकर बैठक में फाग गाने चले गये। किशोर ने सोचा—अब रंग समाप्त हो गया अतः कपड़े बदल लेना चाहिये।

और ज्योंही कपड़े बदलकर बैठा कि धृष्ट साली और सरहजों की एक लम्बी सेना आँगन में आ धमकी। वे सबके सब किशोर से रंग खेलने की लालसा लेकर आई हुई थीं। झट से एक लड़की बोल उठी—क्यों न कमरे में जाकर उन्हें रंग से नहला दिया जाय? किसी ने कहा—नहीं, नहीं, कमरे में ठीक न होगा—दूसरे कपड़े-लत्ते भी खराब हो जायेंगे; अच्छा हो कि उन्हें आँगन में ही बुला लिया जाय।

और तब एक तीसरी बोल उठी—यदि वह बाहर निकलें नहीं तो—?

इसपर कोई बोली—निकलेंगे कैसे नहीं? हम जबर्दस्ती खींचकर बाहर निकाल लायेंगे उनको।

इसपर एक प्रगल्भा तरुणी ने उत्तर दिया—ऊँहूँ···बेचारे रोने लगेंगे,—दुबले-पतले हैं न, इतनी सारी लड़कियों को देखकर ही डर जायेंगे।

किन्तु किशोर चुप था। सबकी बातें सुन रहा था। उसकी समझ में ही न आ रहा था कि अकेला मैं इतनी लड़कियों के साथ कैसे रंग खेलूँ? और खेलूँ भी तो इनके संग कैसे? सबके सब सयानी हैं—विवाहिता हैं,—अपना-

अपना संसार बसा रही हैं। तब एक पराये पुरुष को पराई नारी के संग रंग खेलने का अधिकार ही क्या है ? मैं तो नारियों में—केवल एक लता से ही रंग खेलने का अधिकारी हूँ; किन्तु इन मदहोश युवतियों को कैसे समझाऊँ कि यह अनुचित होगा।

इतने में तीन-चार लड़कियाँ कमरे में घुस गईं और किशोर का हाथ पकड़कर आँगन में खींच ले गईं। बस क्या था, चारों ओर से उसपर रंग की वर्षा होने लगी।

फिर उसने भी रङ्ग डाला। उस मादक वातावरण में क्षण भर के लिये वह सारा ज्ञान और विवेक ही खो बैठा ! वह क्या कर रहा है और क्या करने जा रहा है—उसे निमिष मात्र के लिये भी ज्ञान न रहा। रंग खेलने के नाम पर एक अच्छी छीना-छोरी और लपटा-झपटी हो गई।

उस मंडली में कला भी सम्मिलित थी। सच पूछा जाय तो यह सारा आयोजन भी उसीका किया हुआ था। बहुत दिनों से उसने अपने अरमानों को इसी दिन के लिये संभाल कर रखा था।

मानव-मस्तिष्क पर वातावरण का भी खूब असर पड़ता है। हृदय में संचित भाव अनुकूल अवसर पाकर कार्यों में परिणत हो ही जाते हैं। राख में सोया हुआ अनल-कण हवा की तीक्ष्ण धार में क्षणभर के लिये भी चमक ही उठता है।

अतः रंग-पात्र छीनने में कला और किशोर की अच्छी हाथा-पाई हो गई। कला क्या चाहती थी—उसे इसका ज्ञान न रहा—और किशोर क्या कर रहा था—उसे भी सुध न रही। छीना-छोरी में कला फिसलकर फर्श पर गिर पड़ी और उसके पैर में मोच आ गई। किशोर सहम गया। उसे इस रंग-क्रीड़ा पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ—आह, रंग में भंग हो गया!

सूखते हुए मुँह से झट उसने कला का पैर छूकर देखा—शायद कहीं अधिक चोट तो नहीं लग गई है!—किन्तु कला उसके भोलेपन पर मुग्ध होकर आखिर उस अवस्था में भी मुस्कुरा ही उठी—"बस, इतने में ही घबड़ा गये आप?"

किशोर को उसकी मुस्कान में कुछ आश्वासन मिला। फिर टोले की सारी साली-सरहजें एक-एक कर खिसक गईं। किसी-किसी के मुँहपर कला और किशोर की उस रंग-क्रीड़ा का अपवाद भी था।

वसंत को जब इस घटना की खबर लगी तो मारे क्रोध के वह आग बबूला हो उठा। वह किशोर और कला दोनों का खून पी जाना चाहता था। आज की घटना ने उसकी समस्त शंकाओं को ठोस आधार दे दिया। किशोर को उसने झिड़कना चाहा लेकिन हिम्मत न पड़ी। मूर्खों के क्रोध का शिकार प्रायः दुर्बल प्राणी ही होते हैं। जैसे ही उसने कला को कुछ लँगड़ाकर चलती हुई देखा कि एक खूँखार जानवर की भाँति

उसपर टूट पड़ा ।

उस समय आँगन में वसंत की माँ और उसके बड़े भाई भी मौजूद थे। कला उसके पाशविक मुष्टिका-प्रहार से गिर पड़ी। उसकी माँ और भाई को उसकी यह हरकत अच्छी न लगी। माँ तो उसे बहुत गालियाँ देने लगी और जब बड़े भाई ने डाँटा तो उसने फटकारते हुए उत्तर दिया—"तो क्या आपलोग यही चाहते हैं कि इसको खेलडिन बनने दूँ; मेरे जीते जी इसकी यह मजाल कि डुबकी लगाकर सात घाट का पानी पीये यह ! मैं इसे आज कच्ची ही चबा जाऊँगा।"

उसके इस निर्लज्ज उत्तर पर बड़ा भाई दंग रह गया। उसने डाँटकर वसंत को आँगन से निकाल तो दिया किन्तु उसके मन में भी नाना भाँति के विचार उठने लगे। माँ कला का पक्ष लेकर वसंत को अब भी गालियाँ दे रही थी। कला रसोईघर में बैठकर फूट-फूटकर रोने लगी। किशोर को लगा जैसे उसके गालों पर कोई तमाचा मार रहा हो। उसका अपना साला ही उसपर ऐसा घृणित कलंक लगाये—उसके लिये असह्य था। उसकी आँखें भर आईं। क्रोध से हृदय जल उठा—"क्या इस संसार में हँसना-बोलना भी अपराध है? ठीक है—ऐसे नीच विचारवालों के बीच अब क्षण भर भी टिकना उचित नहीं।"

रात तो उसने जैसे-तैसे गुजारी किन्तु भोर होते ही बिना किसी को कुछ कहे-सुने ही वह ससुरार से चल दिया। केवल

लता से इतना कह गया—"देखो, मैं तो यहाँ अब फिर कभी न आऊँगा,—तुम्हें लिवा ले जाने के लिये कोई आदमी आयेगा—तुम उसके संग चली जाना।"

(१०)

कुसुमबाई को बनारस पहुँचाकर जब मिट्ठू पुनः शिवनगर लौटने लगा तो कुसुमबाई ने आँखों में आँसू भरकर कहा—मिट्ठू दादा, तुम्हीं लोगों ने मेरे प्राण बचाये हैं; मेरा यह पुनर्जन्म देकर तुम लोग मेरे इतने अपने बन चुके हो कि तुम लोगों से दूर होने की कल्पना भी अब मेरे लिये असह्य हो उठती है। उस दिन मैं आ रही थी तो त्रिवेणी बाबू को छोड़ते हुए मुझे ऐसा मालूम हो रहा था जैसे कोई कन्या भाई को नैहर में छोड़कर प्रथमबार ही ससुरार जा रही हो।

और आज तुमसे भी विलग होकर मेरा हृदय और भी टूटता जा रहा है। सच पूछो तो मेरे इस नये संसार में भाई-बाप, सगा-सम्बन्धी जो भी कहो—बस, केवल तुम्हीं दोनों तो हो!

किन्तु कन्या को ससुरार में छोड़कर आज उसका पिता भी उससे दूर हो रहा है—क्या फिर भी आज मैं रोऊँ नहीं दादा?"

मिट्ठू की आँखें भर आई थीं। उसका हृदय वात्सल्य स्नेह से उमड़ उठा था। आज से पहले कुसुम को वह केवल कुसुमबाई ही समझता था; किन्तु आज उसे ज्ञात हुआ कि चन्द ही दिनों में यह भावुक लड़की उन लोगों से एक पारिवारिक सम्बन्ध जोड़कर उनके कितने समीप पहुँच गई है।

मिट्ठू ने पुलकित होकर कहा—"तुम्हें इतना 'दुखी नहीं होना चाहिये बेटी! बेगी बाबू तुमसे बहुत स्नेह रखते हैं;—मैं भी उन्हें कहूँगा—तुम शीघ्र ही शिवनगर फिर बुला ली जाओगी। देखो न, हुआ तो इसी बार झूलन के सुअवसर पर तुम्हें लिवाने के लिये मैं आ धमकूँगा; तब जाओगी न बेटी?"

और कुसुमबाई ने एक रूठी बच्ची की भाँति आँखों में अविश्वास भर कर उत्तर दिया—झूठ!

तबतक कुसुमलता की माँ भी वहाँ आ पहुँची। उसकी भी आँखें गीली हो आई थीं। वृद्धावस्था का एकमात्र सहारा उसकी बेटी कुसुम को जीवन-दान देनेवाले इस व्यक्ति के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा उमड़ आई। उसने कहा—"हाँ भैया, सम्बन्ध केवल जोड़ने से ही नहीं हो जाता—उसे निभाना भी पड़ता है, और फिर मेरी बेटी इतनी भोली है कि देखती हूँ, यदि तुम लोगों ने इसे सहारा नहीं दिया तो यह रो-रोकर ही जान दे देगी।"

मिट्ठू ने उत्तर दिया—"बहन जी, मैं भले ही गरीब हूँ, गँवार हूँ—

मन्दिर का एक साधारण-सा सेवक मात्र हूँ—लेकिन दिल का गरीब नहीं हूँ। जिसे एक बार बेटी कह दिया उसे जीवन-पर्यन्त बेटी बनाकर रखना भी जानता हूँ। मन में तो आता है कि आप लोगों को इसी वक्त साथ लेता जाऊँ किन्तु सोचता हूँ इतनी बड़ी सम्पत्ति किसके हवाले छोड़ कर जायेंगी ? और वहाँ पर आप लोगों का मन लगेगा कि नहीं—ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। फिर देखूँ वेणी बाबू क्या कहते हैं। किन्तु सच मानिये, मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि चाहे आप यहीं क्यों न रहें—लेकिन समय-समय पर मैं यहाँ आता रहूँगा अथवा आप लोगों को ही शिवनगर बुलवा लूँगा।"—और दोनों माँ-बेटी को आश्वासन देकर भरा हुआ हृदय ले वह शिवनगर लौट गया।

जिस दिन से कुसुमबाई गई थी—त्रिवेणी का हृदय सर्वदा किसी अज्ञात बोझ से दबा रहता था। तब उन सूनी घड़ियों में, आँखों में आँसू भर कर विदा होनेवाली कुसुम का वह ममत्वमय रूप उसे विचलित किये देता था।

जाते वक्त कुसुम ने उसके पैर छूकर प्रणाम किया था—इसकी स्मृति मात्र ही उसे कुसुम के प्रति अपनत्व के भावों से ओत-प्रोत किये दे रही थी। उसने अनुभव किया जैसे कुसुम उसके जीवन का एक अंग बन चुकी हो और जीवन के समुचित विकास के लिये उसका सहारा ढूँढ़ना चाहती हो। तब उसे सहारा देने के लिये वह तैयार भी हो उठता था किन्तु

जैसे ही परिस्थिति की यथार्थता का उसे ज्ञान हो आता अपनी असमर्थता पर वह कराह उठता था—"आह, मेरे और कुसुम के बीच कितनी बड़ी खाई है! किसी भी रूप में मैं उसे अपने पास नहीं रख सकता, उसे सहारा नहीं दे सकता। मैं पुरुष हूँ किन्तु पुजारी बनकर पंगु हो गया हूँ। और वह है वेश्या। आह, जगत का यह कैसा कठोर सत्य सामने है!"

और मिट्ठू ने जब लौटकर त्रिवेणी से वहाँ का समाचार और बिछुड़न के समय दोनों माँ-बेटी की व्यथा का हाल सुनाया तो त्रिवेणी अधीर हो उठा। उसे यह भी ज्ञात हुआ कि कुसुम ने उन दोनों से भाई-बाप का-सा सम्बन्ध जोड़ लिया है। वह सोचने लगा—"ठीक ही तो है। बेचारे मिट्ठू दादा को बेटी नहीं थी और मैं एक बहन के लिये तरसता आ रहा था—बाप को बेटी मिल गई और भाई को बहन। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमलोगों के पूर्व जन्म का कोई अधूरा सम्बन्ध जैसे इस जन्म में पूरा होना चाहता हो। काश! इसे मैं पूरा कर पाता!"

सार्वजनिक जीवन व्यतीत करनेवालों के लिये पारिवारिक जीवन बड़ा ही दुष्कर होता है। ऐसा करने से सर्वदा उन्हें मार्गच्युत होने का भय रहता है तथा पग-पग पर समाज की अँगुलियाँ उठने का अथवा उससे पाये हुए सारे सहयोग, श्रद्धा-विश्वास और मान-सम्मान के छिन जाने का भय रहता है।

उसकी उदार सेवा से समस्त ग्रामीण एकता और धर्म-कर्म के एक व्यापक सूत्र में बँधते जा रहे थे।

किन्तु त्रिवेणी अपने अतीत का स्मरण कर स्वयं अपनी अवस्था पर जब क्षुब्ध हो उठता तो सोचने लगता था—"लेकिन मुझे क्या मिलता है? जनता का श्रद्धा-विश्वास केवल फूलों का हार बनाकर गले में ही लटकाया जा सकता है,—उससे पेट भरने को नहीं। आह! मैं भी कितना नादान हूँ! भावुकता में आकर बिना कुछ सोचे-समझे ही मैं सागर में कूद पड़ा। मेरा जीवन आज इतना सार्वजनिक हो गया है कि इस पर सारा अधिकार अबजनता का है, मेरा कुछ भी अपना नहीं रहा। यदि पीछे लौट जाऊँ तो सुख है, संसार है,—संसार के रंगीन भोग-विलास हैं। किन्तु लौटूँ तो कैसे? अब लौट भी तो नहीं सकता। कर्त्तव्य और आदर्श ने मेरे जीवन को इस तरह जंजीर में जकड़ दिया है कि लाख चाहते हुए भी अब पीछे लौटना सम्भव नहीं।"

तब ठीक उसी क्षण उसका मन यह प्रश्न कर बैठता—फिर?

और तब उसके हृदय के किसी कोने से अनायास ही यह उत्तर निकल पड़ता—"आगे बिहारी जी ही जानें! उनको जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उसकी रचना वह स्वयं कर लेते हैं। मुझे भी तो ठोंक-पीटकर अनुकूल बनाते जा रहे हैं। दीपक दूसरों को प्रकाश देता है, सुख देता है—

किन्तु स्वयं वही जलता रहता है, उसीके पास अँधेरा छाया रहता है। उसके हृदय में कितनी जलन है यह वही बता सकता है। लेकिन लोग समझते हैं कि वह विहँस रहा है। आह! यह भी एक कैसा विचित्र रहस्य है ?"

कुछ ऐसे ही क्षणों में जब उसके हृदय में सांसारिक सुखों की भावना ऊधम मचाने लगती थी तो उसके मानस-पट पर अतीत की वे धूमिल स्मृतियाँ कला का मोहक रूप लेकर चपला-सी चमक जातीं। वह सोचने लगता—अहा, प्रारम्भिक जीवन का वह स्वप्नलोक भी कितना सुखद और सुन्दर था! कला पर कभी मैं अपने अधिकारों का अनुभव किया करता था जिसे कला भी समझती थी। उसकी बढ़ती हुई उम्र के साथ उसका खिंचाव भी मेरी ओर वढ़ रहा था। वह मुझसे वहस करती थी—कभी अपनी जीत पर हँसती, कभी हार पर चिढ़ उठती। कभी मुझसे रूठती और कभी मुझे ही मनाने लगती थी। मालूम होता था जैसे मेरा और उसका सम्बन्ध युग-युग का पुराना हो।

मैं भी तब अपने हृदय के सम्पूर्ण भावों से उसे प्रेयसी बनाकर अपने उजड़े हुए जीवन को सजाने की रंगीन कल्पना किया करता था। किन्तु सत्य का रूप कितना कठोर होता है—इसका आभास मुझे आज मिला। स्वप्न और सत्य जमीन-आसमान की तरह मिलन की कामना के लिये तब तक तरसते रहेंगे जब तक कि यह विश्व रहेगा और जमीन नीचे

और आकाश ऊपर होगा।

ऐसे ही विचारों में जब वह अति उद्भ्रान्त और उद्विग्न हो उठता—तो मंदिर के पीछे, पेड़ के नीचे, उस चबूतरे पर आसन जमाकर प्राणायाम करने लगता था। इस कृत्रिम प्रयास में उसे कहाँ तक सफलता मिलती थी यह तो वही जाने।

मिट्ठू ने उसे यह भी बताया था कि कुसुम अपनी वृद्धा माँ के साथ मंदिर में ही रहकर एक धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहती है तथा सारी सम्पत्ति मंदिर के नाम में लिख देना चाहती है। किन्तु त्रिवेणी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह भी तो कुसुमलता के विषय में ऐसी बहुत-सी बातें सोचा करता था। किन्तु उसको मंदिर में रखना, उसकी सम्पत्ति मंदिर में मिला लेना तथा उसके साथ संन्यासमय सार्वजनिक जीवन व्यतीत करना कितना कठिन और सन्देहात्मक था इसका निर्णय प्रायः वे सभी दे सकते हैं जिनके मस्तिष्क में कल्पना के कीड़े न घुस गये हों अथवा भावुकता की बीमारी न पकड़ गई हो।

अतः वह मन में सोचने लगता—"मुझे कुसुमबाई से क्या प्रयोजन? इतने लोगों की भाँति वह भी एक है। उसे विशेष महत्व देकर जनता की आँखों से गिरने की भूल मैं क्यों करूँ? उसे जब मेरी आवश्यकता पड़ी थी—मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया था। फिर जब समय आयगा निभा दूँगा।

केवल उसके लिये ही क्यों; मेरा यह जीवन तो प्राणी मात्र की ही सेवा के लिये है। जब जिसको मेरे इस तुच्छ जीवन की आवश्यकता पड़े—सेवा के लिये मैं उपस्थित हूँ। कुसुमलता को भी यदि फिर कभी मेरी आवश्यकता पड़ी तो कर्त्तव्यवश अपनी जान लेकर सेवा में हाजिर हो जाऊँगा। व्यर्थ ही सिर पर एक झंझट क्यों मोल लेता फिरूँ ?"

और ठीक उसी क्षण तब उसका हृदय उससे यह प्रश्न पूछ बैठता—"और मानव का मानव के प्रति कर्त्तव्य ? 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का वह पावन विचार ? मन में कुसुमबाई को सहायता पहुँचाने का विचार रखते हुए भी पाँव पीछे हटा लेना चाहते हो ? अवश्य ही तुम्हारे मन में कहीं कलुष शेष रह गया है ! तुम्हारा मन इतना सशंकित क्यों ? इसलिये कि तुम दुर्बल हो ? सचमुच यदि ऐसी ही बात है तो फिर यह मूड़ मुड़ाने की आवश्यकता ही क्या थी ? संसार को ठगने का यह छद्म भेष कैसा ? तब छोड़ क्यों नहीं देते यह मन्दिर और पूजा ? औरों की भाँति तुम भी शादी-व्याह कर लो और वर्त्तमान समाज में रहकर एक नारकीय जीवन विताओ। तब मालूम होगा तुम्हें कि जीवन के घूँट कड़ुवे हैं या मीठे !"

हृदय और मन के ऐसे ही तर्क-वितर्कों के बीच त्रिवेणी अपने को पागलों की भाँति असमर्थ और असहाय पाता। ऐसे ही क्षणों में तब उसके प्राणायाम और समाधि काम आते

थे। अन्त में उसने निश्चय किया—तर्क करने का यह रोग ही बुरा है। मानव बुद्धि और ज्ञान से प्रकृति पर जितनी ही सुगमता से विजय प्राप्त करना चाहता है—अपने तर्कों और प्रयासों से जीवन को सुखी बनाना चाहता है—उसका जीवन उतना ही जटिल और अशान्त बनता जाता है, जाल में उतना ही और उलझता जाता है। मैं भी तो ठीक वैसी ही मूर्खता कर रहा हूँ; इसीलिये तो मेरा जीवन आज इतना अशान्त बन गया है! वास्तव में परिस्थिति और परिणाम की विकटता पर सिर धुनना पुरुषों का काम नहीं। सामने आई हुई परिस्थितियों का सम्पूर्ण शक्ति से सामना करना ही केवल मनुष्य का कर्त्तव्य है। हानि-लाभ, यश-अपयश ये तो ईश्वर के हाथ में हैं,—वही ईश्वर जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-चक्र की उस कील की भाँति ध्रुव है, सत्य है, नित्य है। उसीके संकेत से हवा चलती है, पत्ते डोलते हैं, रात और दिन होते हैं। मैं भी अपने कर्त्तव्य के पुरस्कार का भार विहारी जी को ही क्यों न सौंप दूँ ? वह अपना निपट लेंगे।"

अतः कुसुमलता के विषय में भी उसने मौन ही रहना श्रेयस्कर समझा।

लेकिन मिट्ठू कैसे मौन रह सकता था? उसने तो कुसुमलता की आँखों से गंगा-यमुना बहते देखा था। अपनी असमर्थता पर वह कराह उठा—"हाय, पुजारी के हृदय में भी दया नहीं? और मैंने जो उसे वचन दिया था! पुरुष होकर भी मैं

उसको सहायता नहीं कर सकता ? तो क्या दोनों माँ-बेटी झूठे मर्दों में मुझे भी एक जोड़ लें ?"—

और उसने संकल्प किया—"यदि मैं मर्द हूँ तो कुसुम को मन्दिर में लाकर ही दम लूँगा; और यही त्रिवेणी बाबू, जो उसे केवल वेश्या समझ कर ही नहीं बुलाना चाहते—उसकी सहायता पाकर मुझे धन्यवाद देंगे।"—मगर उसे लाये वह तो कैसे ? लाने का कोई सुगम उपाय ही उसे नहीं दिखाई पड़ता था। अतः अपनी असमर्थता पर वह मन ही मन खीझ उठा।

रात में जब वह सोने लगा तो उसके मन में अनेक तरह के विचार और संकल्प-विकल्प के भाव बवण्डर की भाँति उठते और हृदय में केवल एक व्याकुल मन्थन ही छोड़कर आँधी के तिनकों की भाँति विलीन हो जाते थे। वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता था। तर्क-वितर्कों में उलझा ही सो गया। सोच रहा था—क्या मनुष्य का जीवन सचमुच ही इतना जटिल है कि अन्त तक भी न सुलझ सके ?

वेश्या कुसुम !

हाय, उसके जीवन का जैसे कोई लक्ष्य नहीं, कोई सहारा नहीं !

संसार उसे जन्म देकर भी उससे मुँह क्यों मोड़ लेना चाहता है—उसका सहारा छीन क्यों लेना चाहता है ?

और वेणी ?—

एक ओजस्वी ब्रह्मचारी संन्यासी, संसार की सेवा ही जिसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है; संसार के उस दलित और पीड़ित प्राणी—जिसे मेरी आँखें हमारे एक किंचित सहारे के लिये रोती-तड़पती छोड़ आई हैं—उसकी कराहें क्यों नहीं सुनना चाहता ? सहारा के लिये हाथ आगे क्यों नहीं बढ़ाता ?—केवल इसलिये कि वह वेश्या है ?

लेकिन संसार के मालिक के यहाँ तो ऐसा न्याय नहीं है। उन्हें यदि मेवा और पकवान भाता है तो सबरी के जूठे बेर भी कम नहीं भाते। शंकर की जटा में गंगा है तो गले में फणिमाल भी है। वह भला विषधर भुजंग का परित्याग क्यों नहीं कर देते ?

नहीं—

संसार में विष और अमृत का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। इसमें विष का भी वही मोल है जो अमृत का है।

किन्तु उसी संसार का एक आदर्श पुजारी एक पीड़ित वेश्या को दो मधुर शब्दों का सहारा देकर गर्त्त से निकालना क्यों नहीं चाहता ?

हाँ, मैं उसकी मजबूरियाँ भली भाँति समझता हूँ—दुर्बल तपस्वी अपनी साधना पर सन्देह करता है।

किन्तु मैं ?—

संसार की कठोर से कठोर ठोकरें खाने का अभ्यस्त-सा हो गया हूँ मैं। जीवन के जलते हुए दिन और ठिठुरती रातों

ने इन पैंतालिस-पचास वर्षों में ठोक-पीटकर मुझे काफी दृढ़ बना दिया है। मेरे पाँव बेणी बाबू की भाँति इतनी जल्दी नहीं उखड़ सकते। तब फिर देखूँ तो एक बार जोर लगाकर!

बनारस में कुसुम को दिये हुए वे शब्द रह-रहकर उसके कानों में गूँजने लगे—"बेटी, भले ही मैं गरीब और गँवार हूँ; लेकिन हृदय का गरीब नहीं हूँ। जिसे एक बार बेटी कह दिया—जीवन भर उसे बेटी बनाकर रखना भी जानता हूँ।"

और उस निस्तब्ध रात्रि की ऊँघती हुई चेतना में उसने निश्चय किया—चाहे जिस भाँति भी हो, कुसुमलता को यहाँ लाकर ही दम लूँगा। मेरी बेटी—संसार की गन्दी गलियों में नाली के कीड़े बनकर नहीं रह सकती। कीचड़ में खिला हुआ कमल तोड़कर गन्दी नालियों में नहीं फेंक दिया जाता; वह तो किसी देवता के मस्तक पर स्थान पाता है!

ऐसी ही अनेक सारी बातें गुनते-गुनते मिट्ठू सो गया। प्रातः जब उसकी आँखें खुलीं तो उसने देखा—प्राची के क्षितिज में अरुण बाल रवि की सलोनी किरणें वसुन्धरा से लिपटने के लिये मचल रही थीं, किलक रही थीं। आकाश में खग-समूहों की अलबेली पंक्तियाँ कलरव बिखेरती हुई उड़ी चली जा रही थीं। किसान कन्धों पर हल-कुदाल रखे बैलों को आगे-आगे हाँकते हुए खेतों को जा रहे थे और उनकी पत्नियाँ सिर पर राख या गोबर की टोकरियाँ लिये हाथ में हँसिया-डोर या बकरी के पगहे थामीं मधुर स्वर में कुछ गाती-गुनगुनातीं गाँव

छोड़कर गाँव के बाहर जा रही थीं।

मिट्ठू ने हाथ में एक लोटा जल लिया और शौच के लिये पगडण्डी की राह जाने लगा। उसके आगे-आगे कृपकों की एक टोली जा रही थी कि भैरो ने कहा—एक बात जानते हो सरजू काका, कल शाम को मास्टर बाबू से मड़र जी की बातें हुई थीं, सुनने में आया है कि इस साल मन्दिर का झूलन बड़े जोर-शोर से मनाया जायगा। शहर से बड़े-बड़े डिप्टी-कलक्टर आयेंगे। गाँव में एक आश्रम खोला जायगा। उसमें विधवा औरतों या दीन-दुखियों को रोजगार मिलेगा। अनाथ बच्चों की परवरिश होगी। और भी सुना है—गरीब बच्चों को खैरात पढ़ाया जायगा तथा भोजन और वस्त्र मुफ्त दिये जायँगे। आश्रम में बहुत-से मवेशी भी पाले जायेंगे और गरीब बीमार बच्चों को दूध मुफ्त बाँटा जायगा।

और जब मड़र जी ने उनसे पूछा कि ये खर्च आयेंगे कहाँ से ?—तो उन्होंने बतलाया—अमीरों के घर से और किसानों के पसीने से। चन्दा वसूला जायगा, आश्रम के समर्थ सदस्य उचित परिश्रम करेंगे। विधवाएँ केवल आश्रम के बच्चों की देख-भाल ही नहीं करेंगी, बल्कि चरखा काटेंगी, कपड़े बुनेंगी, टोकरी और चटाइयाँ बनायेंगी तथा सभी दीन-हीन अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार काम करेंगे।

मास्टर बाबू कहते थे कि यह ऐसा आश्रम होगा जिसमें निस्सहायों को उचित सहारा मिलेगा। गरीब और अमीर

मास्टर बाबू हम लोगों के बीच लहलहाते रहें। ये दोनों हमारे लिये देवता हैं—देवता! बड़ी अनोखी सूझ-बूझ है इनको। ये जो कुछ भी कर दें थोड़ा ही समझो।"

बातें करते-करते सभी लोग दूर निकल गये थे। और अब वे अपने-अपने खेतों में उतरने लगे थे।

मिट्ठू सब की बातें सुन रहा था। विचारों में डूबा मौन होकर उनके पीछे-पीछे चला जा रहा था। अब केवल बच गये थे सरजू काका। अस्त-व्यस्त-सा, बैलों को हांकता आगे-आगे टोले का वह बूढ़ा काका सरजू जा रहा था। और जब वह भी मेड़ पर से उतर कर अपने खेतों में जाने लगा तो मुड़कर देखा—पीछे में मिट्ठू आ रहा था।

मिट्ठू को देखकर तनिक वह रुका और बोलने लगा—सुना भाई मिट्ठू, अकलू की ऐंठ तो देखो! कहता है—"स्कूल और आश्रम खोलने का मतलब है गरीबों से मदद लेकर अपना उल्लू सीधा करना।" कमबख्त यह भी भूल गया कि पुजारी जी के ही त्याग और दया से हम मरे किसान जी उठे हैं, एक सुन्दर साँस लेकर चल-फिर रहे हैं। मगर हम ऐसे नासमझ और क्षुद्र जीव हैं कि किसी के सच्चे प्यार को भी हम शंका की ही दृष्टि से देखने लगते हैं और जिस थाली में खाते हैं उसमें छेद कर देना भी नहीं भूलते।

मिट्ठू का हृदय बोझिल था जैसे आकाश का सजल मेघ अब बरसना चाहता हो - अब बरसना चाहता हो। उसने

टालते हुए कहा—"जाने दो दद्दू, कमलवाले तालाब में सेवार भी तो रहते हैं! दद्दू, वेणी बाबू बोलते थे कि इस बार के झूलन में मुझे बहुत खटनी पड़ेगी। मास्टर बाबू हैं न, शनिवार को जब स्कूल से आते हैं—बड़ी रात तक मन्दिर में बैठे-बैठे दोनों बातें किया करते हैं। बोलते थे—शहर से हाकिम-हुक्काम बुलाकर उनसे रुपयों की सहायता लेंगे तथा सभा-सोसाइटी कर नये-नये काम खोले जायेंगे। लेकिन मेरी समझ में यही नहीं आता है दद्दू, कि झूलन को सभा-सोइटी और हाकिम-हुक्काम से क्या मतलब? झूलन में तो गीत-भजन, आनन्द-मंगल होने चाहिये।

सरजू मिट्ठू की बातें सुनकर कुछ सोचने लगा तो मिट्ठू ही पुनः बोला-अच्छा, यह तो बताओ दद्दू, झूलन में यदि बनारस से कुसुम को मँगवा लूँ तो कैसा रहे? उसके मधुर स्वर से मंदिर गूँज उठेगा न?

किन्तु सरजू के पास इसका कोई उत्तर न था। मिट्ठू बोला—मैंने कई बार इसका जिक्र वेणी बाबू से किया भी; किन्तु न मालूम कुछ उत्तर क्यों नहीं देते? वह आजकल इतने मौन और उदास रहते हैं कि उनसे कुछ कहने की मेरी हिम्मत ही नहीं पड़ती। डरता हूँ कहीं बुरा न मान जायँ।

सरजू अपने खेतों में आ चुका था। रुककर कंधे पर से हल उतारते हुए बोला—पुजारी जी ऐसे आदमी नहीं हैं भाई मिट्ठू, कि किसी की बातों का वह बुरा मानें। तुम कहकर

देखो तो सही, वह जरूर राजी हो जायेंगे।

मिट्ठू को कुछ आशा मिली। वह बोला—दद्दू, यदि तुम जैसे दो-चार बड़े-बूढ़े मिलकर वेणी बाबू से कुसुम को मंगाने के लिये बोलें तो वह अवश्य ही मान जायेंगे।

सरजू ने मुस्कुरा कर उत्तर दिया—यह कौन-सी बड़ी बात है भाई, आज ही शाम को हमलोग जायेंगे और उनसे कहेंगे। आज तो रविवार है न, शायद मास्टर बाबू भी वहीं मिल जायेंगे।

मिट्ठू प्रसन्न हो उठा। उसने अनुभव किया—जैसे किसी मचलते हुए बालक को आकाश का चाँद मिल गया हो।

(११)

वह वसन्त की एक अत्यन्त मादक रात थी। आकाश में पूनम का सलोना चाँद जगमगा रहा था। बिखरे तारे स्वच्छ सरिता में खिले अगनित कमल की भाँति सुन्दर लग रहे थे। रात चार घड़ी चढ़ चुकी थी।

निर्जन छत पर बैठी कला आँचर के छोर से बहते हुए आँसू को बार-बार पोंछ रही थी। वसन्त का सौरभान्वित शीतल समीर हल्की-हल्की लहरें ले रहा था। आम के बगीचों में कोयल की मदमाती कूक गूँज रही थी।

किन्तु कला का हृदय आज हाहाकार कर रहा था। उसकी उन बड़ी-बड़ी कारी कजरारी आँखों के आगे अँधेरा नाच रहा था। उसे ज्ञात हो रहा था—जैसे सारा ब्रह्माण्ड ही उसकी आँखों में घूम रहा हो अथवा पैरों के तले धरती डोल रही हो।

आँसू रोकने की उसने लाख चेष्टा की किन्तु रुकता ही नहीं था वह। मालूम नहीं—उन दो नयन-कोटरों में आँसू भरा था या आँसू का सागर!

चौपाल में फाग जमी हुई थी। भङ्ग के नशे में उन्मत्त जीव जीवन और जवानी का सारा आनन्द वसन्त की एक ही रात में लूट लेना चाहते थे। ढोलों पर जोरों की चोट पड़ रही थी—कि पुरवाई की उन भीनी लहरों में कला के कानों ने उन्मत्त गीत की वह कड़ी सुनी—

"काली चुनरी में यौवना लहर मारे........"

कला तिलमिला उठी। उसने अनुभव किया जैसे उसका अन्तर जोरों से चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा हो—"और यहाँ तो हृदय में पीड़ाओं का अथाह सागर लहरें मार रहा है!"

फिर वह निर्निमेष भाव से नीरव आकाश के उस चाँद को निहारने लगी। सोचने लगी—"लोग कहते हैं कि वह धब्बा चाँद का है। लेकिन कौन जाने वह धब्बा चाँद का हैं या कालिमा से पुते इस कलुषित जगत का प्रतिविम्ब है वह! आह, यह संसार कितना निष्ठुर और स्वार्थी है—जहाँ वस्तु का गुण-

किन्तु कला का हृदय आज हाहाकार कर रहा था। उसकी उन बड़ी-बड़ी कारी कजरारी आँखों के आगे अँधेरा नाच रहा था। उसे ज्ञात हो रहा था—जैसे सारा ब्रह्माण्ड ही उसकी आँखों में घूम रहा हो अथवा पैरों के तले धरती डोल रही हो।

आँसू रोकने की उसने लाख चेष्टा की किन्तु रुकता ही नहीं था वह। मालूम नहीं—उन दो नयन-कोटरों में आँसू भरा था या आँसू का सागर!

चौपाल में फाग जमी हुई थी। भङ्ग के नशे में उन्मत्त जीव जीवन और जवानी का सारा आनन्द वसन्त की एक ही रात में लूट लेना चाहते थे। ढोलों पर जोरों की चोट पड़ रही थी—कि पुरवाई की उन भीनी लहरों में कला के कानों ने उन्मत्त गीत की वह कड़ी सुनी—

"काली चुनरी में यौवना लहर मारे........"

कला तिलमिला उठी। उसने अनुभव किया जैसे उसका अन्तर जोरों से चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा हो—"और यहाँ तो हृदय में पीड़ाओं का अथाह सागर लहरें मार रहा है!"

फिर वह निर्निमेष भाव से नीरव आकाश के उस चाँद को निहारने लगी। सोचने लगी—"लोग कहते हैं कि वह धब्बा चाँद का है। लेकिन कौन जाने वह धब्बा चाँद का है या कालिमा से पुते इस कलुषित जगत का प्रतिविम्ब है वह! आह, यह संसार कितना निष्ठुर और स्वार्थी है—जहाँ वस्तु का गुण-

दोष केवल स्वार्थ के माप-दण्ड से नापा जाता है। केवल इतना ही नहीं, जो चतुर कहलाते हैं—अपना कलङ्क दूसरों के सिर मढ़ कर बेदाग बच जाते हैं, और ढिंढोरा पीट-पीटकर किसी निर्बल-निर्दोष को अपराधी घोषित कर देते हैं। फरेब की ऐसी दुनिया में कोई निरीह प्राणी भला कब तक जी सकता है!"

फिर उसे अपने पिछले जीवन के उन रङ्गीन दिनों की सुधि हो आई। वह कराह उठी—"आह, वह भी मेरा एक जीवन था! कितना सुखी, कितना सरस! माता-पिताका प्यार बटोरते-बटोरते थककर जब सो जाती थी—आने वाले सुनहरे दिनों का सारी रात एक रङ्गीन स्वप्न देखा करती थी। मुझे तब क्या मालूम था कि एक कसाई के हाथ में पड़कर इस भाँति दिन-रात मैं आँसू ही बहाती रहूँगी!"

इतने में उसे नीचे सोये हुए उसके बच्चे के रोने की आवाज सुनाई पड़ी। सारे घर में एक अजीब खामोशी छाई हुई थी। बच्चे के रुदन ने उसकी विचार-शृङ्खला को छिन्न कर दिया। बच्चे को लेने के लिये वह नीचे उतर गई। जाकर उसे गोद में उठा लिया तो रोता हुआ बच्चा मुँह में माँ का दूध भरा स्तन पाकर चुप हो गया। वह बच्चे को लेकर फिर छत पर चली गई। चाँदनी के उज्ज्वल प्रकाश में उसने बच्चे का मुँह निहारा—अबोध; नन्हा-सा सुकुमार बच्चा, संसार के कोलाहलों

माँ की ममता भरी शीतल गोद में खेलता हुआ यह चञ्चल बालक माँ की जिस छाती का रस चूँस रहा था,—उसे क्या मालूम कि उसी में जीवन को राख बना देने वाली ज्वाला की भीषण लपटें भी धधक रही थीं !

कला सोचने लगी वसंत के बारे में,—वसंत के इस बेटे के बारे में। सोचने लगी—साँप के बच्चे को चाहे जितना भी दूध पिलाया जाय वह साँप का ही बच्चा रहेगा। यह भी तो ठीक उन्हीं साँप के बच्चों की तरह है ! आगे चलकर यह भी मूक नारी को उसी तरह सतायेगा जिस तरह आज इसका बाप मुझे सता रहा है—वही विषधर नाग जिसने मेरे जीवन को सहस्र दंशनों से विषाक्त कर दिया है। इमली का बीज तो आखिर इमली का ही पेड़ उत्पन्न करेगा न ?—फिर मैं इस विष-वृक्ष को अपनी हड्डियों के रस से सींच-सींच कर जहर का भांडार क्यों भरूँ ? क्यों न इस विष-बेलि को शैशव में ही मरोड़कर फेंक दूँ ?

उस नन्हें शिशु में उसके बाप के उन समस्त घातक रूपों की भावी कल्पना कर कला का मन अपने इस सुकुमार और अबोध बालक के प्रति भी घृणा से भर उठा। वह सोचने लगी—इसीका गला क्यों न टीप दूँ ?—किन्तु कला के हृदय में लुटी हुई संतप्त नारी का केवल वह विद्रोही रूप ही नहीं; बल्कि उसके तले मातृ-स्नेह का वह अथाह सागर भी हिलोरें मार रहा था।

पुत्र के सलोने मुँह को बार-बार देखने से कुछ क्षणों के बाद ही उसका आवेश ठण्डा पड़ गया। ममता के बोझ को जब सम्भाल न सकी तो अधीर होकर बालक के मखमली गालों को वह चूमने लगी।

कला को अपने पति के द्वारा पीटे जाने का उतना दुःख नहीं था। गत कई वर्षों के विवाहित जीवन में न मालूम इस तरह की मारें उसे कितनी ही बार खानी पड़ी थीं। दुःख तो उसे था केवल पति के ही द्वारा इस भाँति लाँछित और अपमानित होने का। वह सोचने लगी—जब मेरा पति ही मुझे कुलटा कहें, मुझे परकीया बतायें, अपने ही बहनोई के संग हरजाई कहें तो फिर दुनियावालों के कहने का क्या ठिकाना? अभी तक उन्होंने मुझे कितनी ही बार डाँटा था, पीटा था किन्तु उन चोटों को मैं हँसते-हँसते भूल जाती थी। लेकिन आज यह निष्ठुर चोट, जिसने निर्ममता पूर्वक मेरे हृदय के शीशे को चूर-चूर कर दिया है—मैं कैसे भूलूँगी? शीशे के उन टुकड़ों को जोड़ूँगी कैसे? आह! यह कलेजे की चोट दुस्सह है - यही तो मैं नहीं भूल सकती।

ननद और सास के बहुत कहने पर रात में अनिच्छा पूर्वक भी दो चार कौर उसे खाना ही पड़ा। उसे अपने कलंक की जितनी चिंता नहीं थी उससे कहीं अधिक किशोर के अप-मानित होने का दुःख था उसे। वह मन में सोच रही थी— "हाय, मेरे दूध के धोये ननदोई पर भी लोग ऐसे घृणित कलंक

लगाने से बाज नहीं आते ! सचमुच जो जैसा रहता है वह दूसरों को भी वैसा ही समझता है।

रूठी हुई कला अपने व्यथित हृदय को सहलाते-सहलाते सो गई। उसे विश्वास था कि जब सब लोग सो जायेंगे तो उसका भी पति उसके पास आयगा और आकर उसे मनायेगा या नहीं तो कमसे कम उसके कमरे में आकर सो तो रहेगा ?

चौपाल में फाग हो ही रही थी। कला के उनींदे कानोंने वह अन्तिम गीत सुना–

"मोहे काजर का डिब्बा ला दे बलम,
काजर बिनु नैना बिगड़ गये······"

गीत सुनकर कला का हृदय रो उठा—और यहाँ तो आँखों का काजर आँसुओं से दहा जा रहा है !

ऐसी ही अनेक बातें सोचती-सोचती वह सो गई। किन्तु दोपहर की उस निस्तब्ध रात्रि में जब नशाखोरों की उन्मत्त दुनिया में भी खामोशी छा गई उसका बच्चा चिल्ला उठा। उसकी नींद टूट गई। बच्चे के मुँह में स्तन डालकर पीठ ठोंक-ठोंक कर उसे सुलाने लगी। बच्चा कुछ ही क्षणों के बाद पुनः सो गया। किन्तु जागी रही कला।

उसकी नींद टूटी; पर मिला उसे क्या ?

वही—तिरस्कृत जीवन के जलते शोले ! कठोर उपेक्षा के अगणित बाण !

आह ! मोम-सी नारी का भावुक हृदय ऐसी कठोर ठोकरें

कैसे सहन कर सकता था भला ?

सवेरा हुआ। संसार के अन्य सुप्त प्राणियों की भाँति कला भी विस्तर से उठी। प्रकृति जीवन की चेतना पाकर जागरण के गीत गुनगुना रही थी। सभी प्राणियों के पास जागरण का एक नया संवाद था। लेकिन कला के लिये ?—उसके लिये तो सुप्रभात की उन मधुरिम रश्मियों में जीवन का प्रकाश नहीं; बल्कि अमावस्या की रात वनकर उसके गोरे मुँह पर जैसे वे कालिमा पोत रही हों। उसे ज्ञात हो रहा था—जैसे सारी दुनिया ही चिल्ला-चिल्लाकर कह रही हो - कला कुलटा है; हरजाई है !

इस अपमान को वह सह न सकी। उसके मनोभावों में परिवर्तन लाने के लिये लता ने लाख चेष्टा की किन्तु कला के उन जलते होठों पर हँसी न आ सकी।

दोपहर में जव सारी दुनिया चैन की बाँसुरी बजा रही थी—कला ने अपने कपड़ों में आग लगाकर आत्म-हत्या कर ली। मान-सरोवर की वह मरालिनी विन्ध्य की घाटियों में आते ही तड़प-तड़प कर मर गई। वह आकाश-कुसुम धरती पर आते-आते राह में ही सूख गया।

इस घटना का दुखद समाचार जब त्रिवेणी को मिला तो सुनते ही वह मर्माहत हो गया। लोग कहते हैं कि औरतों की ही भाँति उसने लगातार कई दिनों तक आँसू बहाये थे। कुछ दिनों तक अन्न-जल भी त्याग दिया था उसने। किसीसे

कोई बात-चीत नहीं करता। पूजा-पाठ, नियम-संयम सभी छूट गये थे। मौन होकर शून्य दृष्टि से केवल आकाश की ओर निहारता रहता था।

उसमें ऐसे असम्भावित परिवर्त्तन देख कर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ—इस कठोर वैरागी के मन में भी भौतिक अनुतापों का इतना सन्ताप!

किन्तु त्रिवेणी अपने विचारों में बेसुध था—हाय, कोमल फूलों का वह हार बन्दर के हाथों पड़ गया? डाली की वह कली खिल कर अभी हँसने भी न पाई थो कि निर्दयी ने उसे तोड़ लिया? उसकी सुकुमार पंखुड़ियों को निर्ममता पूर्वक नोंच-खसोट कर आग में फेंक दिया? न मालूम नृशंस पुरुषों के राज्य में नित्य ऐसे कितने ही सुकुमार फूल आग में झोंक दिये जाते हैं!

उसके हृदय में विचारों का तूफान उमड़ आया। सोचने लगा—आज हमारा समाज बाघ और भेड़ियों से भर गया है। जब तक ये खूँखार जीव पशु से मनुष्य नहीं बना दिये जायेंगे—सामाजिक जोवन का कोई महत्व नहीं। शादी-विवाह सब झूठ है।

अतः इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर त्रिवेणी ने एक नैतिक क्रान्ति का दृढ़ सङ्कल्प किया। इस महायज्ञ के अनुष्ठान में उसके अन्दर का रहा-सहा भी सांसारिक—मोह स्वाहा

उसके जीवन का केवल एक ही लक्ष्य था—मनुष्य को मनुष्य बनाना, भूले-भटकों को राह लगाना और जन-जीवन में सुख-शान्ति का आविर्भाव करना।

कला की मृत्यु ने उसे इतना कठोर और कर्मठ बना दिया कि काँटों को भी फूल बना देने के लिये वह अकथ परिश्रम करने लगा। अब केवल वह था और था उसके सामने—जीवन का विशाल कर्म-क्षेत्र।

अपने कामों से छुट्टी पाकर जब घड़ी-दो घड़ी के लिये एकान्त में निश्चिन्त होकर बैठता तो समाज के स्वार्थान्ध पापी पुतलों के जघन्य अत्याचारों की भावना उसके मस्तिष्क की चिन्तन-धाराओं को आँधी के प्रबल झोंके बन कर उद्वेलित कर जाती थी। तब वह अत्यन्त विकल हो उठता था और उन पशुओं के विषय में सोचने लगता था जो स्वार्थ की जगह तो अपना अधिकार ढूँढ़ते हैं,—अपने अधिकार की माँग अथवा सुरक्षा के लिये किये गये उत्पातों को क्रान्ति की संज्ञा देते हैं; किन्तु जब उनसे कुछ कर्त्तव्य भी करने के लिये कहा जाता है तो प्रायः वे दुम दबाकर भाग खड़े होते हैं अथवा बगलें झाँक कर अपेक्षित कर्त्तव्यों को कर्त्तव्य की कोई संज्ञा ही नहीं देते और धर्म और ध्यान की दुहाई देकर बलि के बकरे की भाँति बेचारे मूक प्राणियों की हत्या कर बैठते हैं।

जब से कला की वह दुखद मृत्यु-घटना घटी—उसे पुरुष वर्ग से ही एक घृणा-सी हो गई। उसे समस्त पुरुष वर्ग खूँखार

बाघ–भेड़ियाँ–सा उद्दण्ड और हिंस्र प्रतीत होने लगा—जिनके पास न कोई न्याय रहता है और न तो क्षमा अथवा शील ही। जो केवल अपने प्रभुत्व के ही आधार पर .निर्दोष और सुकुमार मेमनों को निगल जाते हैं। उनका केवल एक ही सिद्धान्त रहता है—प्रभुत्व ही अधिकार है; और कर्त्तव्य ?—वह तो दुर्बलों की दुनिया का विषय है।

और ठीक ऐसे ही समाज के उद्दण्ड पशु अपने को भँवरा कहते हैं—और मूक नारी को कहते हैं फूल। कहते हैं—कली-कली, और फूल-फूल का रस पीने का अधिकार तो हमारा चिरंतन वरदान है। रस पीना ही हमारा जीवन है और इस अधिकार का प्रयोग हम किसी भी प्रकार से करने के लिये स्वतन्त्र हैं, और हमारी यह स्वतन्त्रता ईश्वर के घर से ही स्वीकृत है। कलियों और फूलों को यदि हमसे कोई शिकायत है तो ईश्वर से जाकर कहें जिन्होंने पुरुष को भँवरा बनाया और नारी को फूल - सौरभ से पूर्ण और रस से सराबोर। पुरुष तो भँवरा है—जिसे हर फूल पर बैठने का अधिकार है; मनमाना रस पी–पी कर जीने का सौभाग्य प्राप्त है !

किन्तु समाज के ऐसे ही भँवरों से यदि नारी यह प्रश्न पूछ बैठे कि क्या भँवरा पति की हर पत्नी को भी यह अधिकार नहीं है कि कली की ही भाँति वह अपने रूप–रस–पान का निमन्त्रण अन्य भँवरों को भी दे सके ?

मगर है कोई ऐसा भँवरा जो चहारदिवारी के अन्दर के

सिसकते फूलों की आवाज सुन सके? दासता की शृङ्खला में आवद्ध कलियों के स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये किये गये प्रयासों को सहन कर सके?

नहीं। आज का स्वार्थी मानव हिंस्र पशुओं की भाँति दुर्बल नारी का सारा अधिकार हड़पकर केवल अपने ही अधिकार के लिये दहाड़ता फिरता है।

हाय! कला-सी कोमल कली भी तो ठीक एक ऐसे ही हत्यारे के हाथ पड़ कर समय के पहले ही मुरझाकर नष्ट हो गई! आह! सुमन-सी सुकुमार और सुहासिनी नारी के जीवन का ऐसा दुःखद अंत।

कुछ ऐसे ही विचारों में खोया हुआ एक दिन जब वह सन्ध्या समय मंदिर के खेतों की मेढ़ पर घूम रहा था तो उसे किसी के सिसकने की आवाज सुनाई पड़ी। मेढ़ के दोनों ओर मकई के बड़े-बड़े हरे-भरे पौधे लहलहा रहे थे। सावन के प्रारम्भिक दिन थे। दिग्दिगन्त में हरियाली छाई हुई थी। आज का दिन साफ था। ढलता हुआ सूरज प्रकृति की हरियाली पर पीली आभा चढ़ा रहा था—ठीक उसी प्रकार जैसे एक चतुर स्वर्णकार आभूषणों पर सुनहला रंग फेर रहा हो। खेत की भींगी हुई मिट्टी तेज धूप खाकर अब भी उसाँसें भर रही थी। घास और पौधों से एक उष्ण और सोंधी महक आ रही थी।

त्रिवेणी रुक गया और ध्यान से उस आवाज को सुनने

लगा। उसने अनुभव किया जैसे कोई सिसकता हुआ व्यक्ति घास गढ़ रहा हो और वह आवाज किसी पुरुष की नहीं; वल्कि किसी स्त्री की हो।

फिर जब वह आगे बढ़ा तो उसने देखा – एक स्त्री मुँह फेरे घास गढ़ रही थी। उसके हाथ जल्दी-जल्दी चल रहे थे। बीच-बीच में वह आँसू भी पोंछती जाती थी।

त्रिवेणी ने सोचा—अवश्य ही यह नारी भी गृह-कलह की आग में जलकर आँसू बहा रही है! ओफ! आज का मानव जीवन कितना अशान्त और अरुचिकर हो गया है ! पुरुष नारी पर मनमाना अत्याचार कर रहा है। नारी भी पुरुषों की उपेक्षा करने लगी है। दोनों एक दूसरे को अपना-अपना विपक्षी समझने लगे हैं। दिन-दिन पुरुष और नारी में असहयोग का भाव बढ़ता जा रहा है। ऐसी भावनाओं के बीच खड़ी गृहस्थी क्या सचमुच ही पुरुष-नारी के मिश्रित जीवन का एक लहलहाता संसार होता है ? नहीं। इस बर्वर युग में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध उन सामाजिक सिद्धांतों के ठोस आधार पर नहीं; वल्कि स्वार्थ और सामर्थ्य की भित्ति पर ही आधारित है। वह पावन सम्बन्ध आज केवल एक धोखे की टट्टी रह गया है। दोनों में जब भी किसी को अवसर प्राप्त होता है—अपना-अपना रंग दिखाने में वे चूकते नहीं।

उसने आगे बढ़कर आवाज दी—कौन ? रोती हुई

स्त्री ने सिर का कपड़ा ठीक करते हुए उत्तर दिया—मैं हूँ बाबू, पूरना की चाची।

त्रिवेणी तबतक उसके समीप पहुँच चुका था। फिर उसने उससे रोने का कारण पूछा। स्त्री ने उत्तर दिया—क्या कहूँ बाबू, खोटी किस्मत को रो रही हूँ··· ।

"लेकिन फिर भी तो कुछ बात होगी ?"

"बात क्या,— पूरना केचाचा पूरना की माँ से व्याह करना चाहते हैं। घरवाले भी कहते हैं कि मैं बाँझ हूँ; सूखा सेंवर भला कबतक सेवे कोई! लेकिन बाबू, इसमें मेरा क्या दोष है ?"

"हुँ······" और त्रिवेणी आगे बढ़ गया। उसके हृदय में विद्रोही भावों की आँधी चल रही थी। नारी के अश्रु-बून्दों ने नारी पर किये गये अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने के लिये ललकारा उसे।

फिर उसी शाम को त्रिवेणी ने मिट्ठू के द्वारा गाँव के मड़र तथा अन्यान्य व्यक्तियों को भी बुलवाया और एक पंचायत की। सभी उपस्थित किसान अवाक थे कि आखिर यह पञ्चायत आज हो किस बात के लिये रही है।

और जब सभी लोग जुट गये—त्रिवेणी ने कैलू महतो से पूछा—क्यों भाई कैलू, सुनते हैं कि तुम लोग मँगलू का दूसरा व्याह करना चाहते हो ?

कैलू ने उत्तर दिया—हाँ, पुजारी जी, यह बात सच ही है। इतने दिनों तक देखा—पहली स्त्री से संतान होने की उसे अब

कोई आशा न रही। वंश चलाने के लिये तो आखिर कुछ करना ही होगा ?

"तो यह शादी किस लड़की के साथ हो रही है ? तुम्हारा बेटा मँगलू कोई बच्चा तो नहीं—पैंतीस-चालीस के लगभग का होगा ! उसका व्याह किसी दस-बारह साल की कन्या के संग होना तो उचित नहीं।"

"नहीं पुजारी जी, वह स्त्री तो घर में ही है। मेरी बड़ी पतोहू पूरना की माँ है न,—उसी से चुमौना हो जायगा। घर की चीज घर में रह जायगी। विधवा पतोहू की उजड़ी माँग हम कब तक देखते रहेंगे।"

गंभीर होकर त्रिवेणी ने कहा—अच्छा, तो अब समझा—तुम्हारी छोटी पतोहू बाँझ है, इसीलिये तुम अपने बेटे का चुमौना बच्चोंवाली अपनी विधवा पतोहू से कर रहे हो—यही न ?

"हाँ बाबू, यही बात है। इसमें कोई हर्जा भी नहीं है—हम लोगों में तो चुमौना चलता ही है !"

"लेकिन पूरनाकी माँ तो उसकी बड़ी भौजाई लगती है न ?"

"हाँ है तो भौजाई ही—लेकिन विधवा जो है बाबू !"

त्रिवेणी भावावेश में आ चुका था। शब्दों पर जोर देकर बोला—भाई कैलू, मेरी समझ में बड़ी भौजाई और माँ के स्थान में कोई विशेष अन्तर नहीं है। तो फिर, क्या कोई भी व्यक्ति संतानोत्पति की अभिलाषा से अपनी विधवा

माँ या बहन से ब्याह कर सकता है ? आज तक किसी भी गाँव में ऐसा होते सुना है तुमने ? यदि ऐसा नहीं होता —ऐसा नहीं हो सकता—तो फिर मंगलू का ही ब्याह तुमलोग उसकी भौजाई से क्यों करने लगे ?

एक बात हमेशा ध्यान में रखो भाई कल्लू,—ईश्वर जो चाहते हैं वही होता है। तुम कितनी भी कोशिश क्यों न करो लेकिन जब तक ईश्वर को मंजूर नहीं होगा तुम्हारे सारे परिश्रम व्यर्थ हैं। अपने ही गाँव में देख लो—ऐसे कितने ही आदमी मिलेंगे जो तीन-तीन शादियाँ किये बैठे हैं लेकिन पुत्र के नाम पर एक कानी कन्या भी उत्पन्न नहीं होती उन्हें ! अब तुम्हीं बताओ—वे सारी की सारी स्त्रियाँ बाँझ है या उनके पति में ही कोई दोष है अथवा उनकी तकदीर में संतान लिखो हो नहीं ; क्या कभी इन बातों पर भी तुमलोगों ने विचार किया है ?

खैर ! कुछ भी हो, हमें तो हमेशा यह ध्यान में रखना चाहिये कि जब हमारे रहते हमारी पत्नियाँ दूसरा ब्याह नहीं कर सकतीं तो फिर हमें ही क्या अधिकार है कि हम अपनी पत्नी के जीते-जी दूसरा ब्याह करें !

तुम कह सकते हो कि यह अधिकार केवल पुरुषों को ही है—स्त्री को नहीं। लेकिन मैं पूछता हूँ कि आखिर यह अधिकार बनाने वाले भी तो हमी लोग हैं ! हम पुरुष अपने

करते आ रहे हैं। हम जिसमें अपना स्वार्थ देखते हैं--उस पर अपना अधिकार बताकर उसे हड़प लेते हैं। नारी को भी हम ऐसी ही तुच्छ वस्तु समझते हैं जिसे जीवन में नित्य के भोजन का स्थान देकर अपनी स्वेच्छापूर्वक खाते-पकाते हैं। बेचारी नारी कुछ विरोध नहीं कर सकती--इसलिये कि वह दुर्बल है—मूक है। हम उसे इतना दबाकर रखते हैं, कुचल कर इतना तुच्छ बना देते हैं कि इच्छा होते हुए भी वह हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकती। हम उसके जीवन पर पार्थिव वस्तु की भाँति पूर्ण रूप से अधिकार पा लेते हैं; लेकिन उसकी स्वतंत्रत आत्मा पर हम दखल नहीं पा सकते। उसके मन को हम झुका नहीं सकते। और यही कारण है कि नारी भी पुरुषों के अत्याचारों से तंग आकर प्रतिशोध लेने का प्रयास करने लगी है। जब भी किसी नारी को अवसर हाथ लगता है—पुरुषों की आँखें बचाकर अपनी गोटी लाल कर लेती है। समाज में डुबकी लगाकर पानी पीने वाली नारियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है, हमारा समाज व्यभिचारों से भरता जा रहा है।

बेचारे मूर्ख किसान एक टक लगाये त्रिवेणी की बातें सुन रहे थे। उसके शब्दों में इतनी यथार्थता थी कि कोई भी उसके कथन का विरोध न कर सका। ज्ञान भरी उसकी ऐसी-ऐसी बातें सुनकर सबों को आश्चर्य हुआ। आखिर एक ने आपस में कह ही डाला—बाप रे! छोटे पुजारी जी के ज्ञान

की तो कोई थाह ही नहीं मिलती। इस छोटी उम्र में ही न मालूम इतने ज्ञान कैसे पा गये !

किन्तु त्रिवेणी बोल ही रहा था कि बीच में कैलू महतो बोल उठा—पुजारी जी, भाई-भाई तो एक होते हैं। हमलोगों में चुमौना का रिवाज है,—यदि भाई की औरत से ब्याह हो ही गया तो क्या हर्ज है ?

इस पर त्रिवेणी ने उसे सरल भाषा में बड़े सुन्दर ढङ्ग से समझाया—हाँ भाई, मैं तुम्हारी बातों से सहमत हूँ; भाई-भाई में अपनत्व का भाव रहना भी चाहिये। और कोई व्यक्ति अपनी विधवा भाभी को पत्नी बनाकर रखता भी है तो कोई बुरी बात नहीं। इतना ही नहीं; उसे पत्नी से भी अधिक प्यार देना चाहिये। लेकिन बुरा तो यह तब है जब मृतक भाई के बच्चों को अपना बच्चा न समझकर भाभी को अपनी भूख का भोजन समझें और एक अलग वंश चलाने के लिये उससे विवाह कर लें।

यह चोट प्रत्यक्ष रूप से कैलू पर थी। कैलू त्रिवेणी की बातें सुन कर तिलमिला उठा। शेष उपस्थित पञ्चों ने भी सोल्लास समर्थन किया—हाँ, पुजारी जी सोलहों आने दुरुस्त कहते हैं !

किन्तु त्रिवेणी कहता ही जा रहा था—देखिये, यह समस्या ठण्डे दिमाग से सोचने का विषय है। हमलोग जब अज्ञानवश एक अपराध करते हैं, तो उसे छिपाने के लिये

जानकर भी कितने ही अपराध और कर डालते हैं। वे ही अपराध हमारे जीवन के भोषण षड़यन्त्र बनकर हमारे अस्तित्व को उखाड़ फेंकते हैं।

अतः मेरी समझ में तो मँगलू का व्याह उसकी पहली स्त्री के जीते-जो होना ही नहीं चाहिये। माना कि मँगलू को संतान नहीं है, लेकिन इससे क्या हुआ? उसके भाई की संतान तो है! वंश चलाने के लिये वे ही पर्याप्त हैं। और फिर हम गरीबों के वंश में अधिक बच्चे होना—यह भी तो वंश की अगली पीढ़ियों के लिये घातक ही है! भाई भाई के मुँह की रोटी छीने, आर्थिक अभाव से विक्षिप्त होकर भाई भाई का ही खून पीने लगे—कैसी विचित्र बात है! हम एक पिता की संतान; एक वृक्ष की दो डालियाँ—अधिक शाखाओं के बढ़ने से ही न आपस में पृथक-पृथक होकर एक दूसरे के विकास में बाधक हो जाते हैं·········

और त्रिवेणी के सरल तर्कपूर्ण वाक्यों से अति प्रभावित होकर सारे पंचों ने अपना फैसला सुना दिया—मंगलू का व्याह अब पूरना की माँ से कभी नहीं हो सकता। ठीक ही कहा छोटे पुजारी जी ने—भौजाई तो माँ के समान होती हैं। हम गाँव में ऐसा पाप अब फिर कभी नहीं होने देंगे। इतने पर भी कैलू मानेगा नहीं तो हम लोग हर तरह से विरोध करेंगे—हुक्का-पानी, कुआँ-खाद सब कुछ बन्द कर देंगे।

पंचों का वैसा रुख देखकर आखिर कैलू को अनिच्छा

पूर्वक भी उनका फैसला मानना ही पड़ा। जब पंचायत समाप्त हो गई तो कैलू सिर नीचा किये घर गया। पंचलोग भी उठकर अपने-अपने घर गये। त्रिवेणी की बुद्धि और उसकी अद्भुत न्याय-धारा पर सभी विमुग्ध हो उठे थे। मुँह-मुँह पर उसकी प्रशंसा थी।

(१२)

मैजिस्ट्रेट साहब की माँ तीर्थाटन से लौटी थीं। पुराने विचारों की वह वृद्धा धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, दान-ध्यान में विशेष व्यस्त रहा करती थीं। उनके जीवन की वह अन्तिम बेला थी। पका आम न जानें कब चू पड़े! अतः इस बार उनका अन्तिम तीर्थ बद्रिकाश्रम का था। कल उसी उपलक्ष में भंडारे का आयोजन था। ब्राह्मण-भोजन के साथ-साथ इष्ट मित्रों को भी खिलाने का प्रबन्ध था।

मैजिस्ट्रेट साहब ने अजीत को भी निमंत्रण देने का विचार किया। सोचा—इधर बहुत दिनों से वह आया भी नहीं; न उससे मुलाकात ही हुई है—मालूम नहीं क्या बात है! उसे निमन्त्रण भेज दूँ तो वह अवश्य आ जायगा। तब सारा

समाचार भी मालूम हो जायगा। फिर कामिनी भी तो परसों जा रही है, उससे भी मुलाकात हो जायगी। कामिनी भी उसके बारे में पूछा करती है !

किन्तु मालूम नहीं—फिर वह मौन क्यों रह गये।

दूसरे दिन निश्चित समय पर होम-जाप समाप्त हुआ। फिर ब्राह्मण-भोजन और दान-पुण्य हुआ। अब मित्र और सगे-सम्बन्धी खाकर लौटने लगे थे। कामिनी अजीत की प्रतीक्षा में बेचैन थी। उतने अतिथियों के बीच उसकी प्यासी आँखें अजीत को ढूँढ़ने में व्यस्त थीं। हर आने और जाने वालों को वह खिड़की से झाँकती किन्तु अजीत उसकी नजर में नहीं पड़ा। इसी भाँति व्याकुल प्रतीक्षा में ही कई घंटे बीत गये। अब तक प्रायः सभी लोग भोजन कर चुके थे और आये हुए सभी अतिथि भी प्रायः विदा हो चुके थे।

कामिनी अधीर हो उठी। वह सीधे मैजिस्ट्रेट साहब के पास गई और पूछा—"बाबूजी, अजीत अभी तक नहीं आया ? आज-कल वह यहाँ नहीं है क्या ? लेकिन कालेज तो बन्द नहीं; फिर वह आया क्यों नहीं ?"—एक ही साँस में वह न जानें इसी तरह के कितने ही प्रश्न पूछ बैठी।

लेकिन मैजिस्ट्रेट साहब के पास कामिनी के प्रश्नों का कोई उत्तर न था। संभल कर कहा उन्होंने—अरे हाँ, उसे निमन्त्रण गया है कि नहीं; यह तो मुझे याद हो न रहा। लेकिन कार्ड तो उसके नाम भी लिखा था लेकिन कार्ड उसके

पास भेजवाया है कि नहीं, ठीक-ठीक मुझे याद नहीं। मैंने तो सोचा था कि अलग से तुमने भी निमंत्रण उसे दिया ही होगा।

आत्मा जब दुर्बल पड़ जाती है तो मनुष्य एक झूठ को छिपाने के लिये उसी तरह के और भी कितने ही झूठ बोल बैठता है; लेकिन नैयायिक नेत्रों के सामने व्यक्ति का वह कृत्रिम प्रयास अधिक देर तक सफल नहीं रह पाता।

कामिनी पिता के बनावटी उत्तरों से आहत होकर मौन हो गई। किन्तु पिता की पैनी आँखों ने बेटी के भोले मुख-मण्डल पर छाई उसके सरल हृदय की उदासी आखिर ताड़ ही ली।

झट से मैजिस्ट्रेट साहब बोल उठे—"खैर अभी कुछ बिगड़ा नहीं है बेटी! ड्राईवर को गाड़ी लेकर भेज दो—अजीत जरूर आ जायगा, बड़ा ही सरल स्वभाव का युवक है।"

किन्तु कामिनी कुछ न बोली। वह पूर्ववत ही मौन रही। उसके मुँह पर कुछ भाव आये और घृणा तथा उदासी का हल्का रङ्ग छोड़कर शीघ्र ही विलीन हो गये। मैजिस्ट्रेट साहब की अनुभवी आँखों ने इसे स्पष्ट देख लिया था। फिर उन्होंने स्वयँ ही ड्राईवर को बुला कर अजीत के नाम से एक स्लिप दिया और कहा—जाकर होस्टल से अजीत को बुला ले आओ,—मेरा नाम कहना कि एक जरूरी काम से बुला रहे हैं आपको!

ड्राईवर शीघ्र ही गाड़ी लेकर चला गया। कामिनी के होठों पर प्रसन्नता नाच उठी।

करीब ढलती वेला के चार का समय होगा। अजीत अभी-अभी कालेज से लौटा था। होस्टल में अपनी सीट पर लेटे अन्यमनस्क भाव से कोई मासिक पत्रिका उलेट रहा था। नजर पन्नों पर थी लेकिन उसका मस्तिष्क भावों की तेज गाड़ी के पीछे दौड़ रहा था। कभी कानन का अभाव, कभी कामिनी की स्मृति—कानन से खिंचाव और कामिनी की ओर झुकाव; ये सारी बातें उसके हृदय को अशान्त बनाये दे रही थीं,—मथे डाल रही थीं। वह क्या करे और क्या नहीं; इसी की वह स्पष्ट विवेचना नहीं कर पा रहा था।

इतने में ही ड्राईवर ने कमरे में प्रवेश कर सलाम बजाया और फिर मैजिस्ट्रेट साहब का स्लिप आगे बढ़ा दिया। उसमें किसी और बात का उल्लेख नहीं था केवल इसके कि परसों कामिनी राँची जा रही है; तुमसे वह मिलना चाहती है—अतः ड्राईवर के साथ शीघ्र ही आने का कष्ट करना।

अजीत ने जल्दी से मुँह धोया, कपड़े बदले और फिर गाड़ी में जा बैठा।

अजीत को देखकर कामिनी मुस्कुराई और फिर झेंप भी गई। अपने-अपने विवाह के बाद दोनों यह प्रथम बार ही मिले थे। कई महीनों से दोनों की मुलाकात नहीं हुई थी।

मैजिस्ट्रेट साहब बैठक में थे। गाड़ी से उतर कर जैसे

ही उसने बैठक में प्रवेश किया कि वहाँ मैजिस्ट्रेट साहब को देखकर झट से नमस्कार किया। मैजिस्ट्रेट साहब ने मुस्कुराते हुए बड़े तपाक से कहा—आओ-आओ अजीत !

समीप ही बेंत की एक खूबसूरत कुर्सी पड़ी थी। अजीत उसी पर बैठ गया। कुछ सकुचाया हुआ सा लग रहा था वह।

मैजिस्ट्रेट साहब ने कहा—यह कितने दिनों के बाद दर्शन दिये हो अजीत ? भई, मालूम होता है जैसे इधर का रास्ता ही भूल गये थे तुम।

अजीत ने अपनी परेशानियों को छिपाने का प्रयत्न करते हुए झेंप कर उत्तर दिया—लेकिन अब तो फिर याद हो आया है।

मैजिस्ट्रेट साहब हँस पड़े। फिर बोले—शायद तुम डरते थे कि मुलाकात होते ही वे लोग विवाह का भोज माँगेंगे मुझसे।

अजीत ने मुस्कुराकर उत्तर दिया—भोज खाने और खिलानेवाले दोनों तो आप ही हैं,—फिर मैं इसके लिये क्यों डरता ?

मैजिस्ट्रेट साहब कट कर रह गये। सोचने लगे—अहा, कितना तर्कपूर्ण निष्कपट उत्तर है इसका ! फिर सम्भल कर बोले—हाँ, इसीलिये तो तुम्हें आज बुलवाया है; और फिर कामिनी को आवाज देकर हँसते हुए कहा—ले जाओ बेटी,

आज अजीत की दावत करा दो, तुम्हारे यहाँ भी बाकी है इसकी।

लजाकर धीरे से कामिनी बोली—पहले तो मेरी; फिर इनकी; और अजीत को आँगन में लिवा ले गई।

अजीत को भोजन कराने में आज कामिनी को एक अपूर्व आनन्द मिल रहा था।

और अजीत भोजन कर रहा था। लेकिन मौन था।

कामिनी ने मौन भङ्ग करते हुए कहा—आप व्याह करके लौटे और हमलोगों को ऐसा भूल गये जैसे सफर में ट्रेन का मुसाफिर अपने स्टेशन पर उतरते ही डिब्बे के शेष साथियों को भूल जाता है।

"इसमें भी सन्देह है? मानव-जीवन ठीक वैसा ही एक लम्बा सफर है जिसमें कितने ही मुसाफिर आपस में मिलते हैं और मिल-मिलकर फिर बिछुड़ जाते हैं, छूट जाते हैं। यदि हम तुमको भूल जायँ, तुम हमको भूल जाओ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है कामिनी? जीवन-सफर के बिछुड़े हुए साथियों को याद कर-करके पछताना मञ्जिल तक पहुँचने के लिये अत्यन्त बाधक है—जीवन की कमजोरी और महान अस-फलता है।" अजीत का उत्तर प्रासङ्गिक सहज और सत्य था। किन्तु कामिनी ने इसे अपने ही ऊपर का प्रत्यक्ष प्रहार समझा। सम्भल कर बोली—आखिर इस तरह भूलने और भुलाने की भी एक काल-सीमा होती है! यदि मानव की

नजरें इतनी जल्दी-जल्दी बदलती रहें तो संसार केवल एक बालू या टीलों का प्रदेश रह जाय। जन-जीवन तब पाषाणों की ही भाँति मूक और जड़ बन जाय।

"तुम्हारा कहना ठीक है कामिनी, लेकिन विपरीत दिशाओं के दो गतिमान पथिक आपस में एक दूसरे से अधिक काल तक नहीं मिले रह सकते। वे समय के साथ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेंगे—एक दूसरे से उतनी ही दूर होते जायेंगे—ठीक उसी प्रकार जैसे एक पहाड़ी नदी की धारा उद्गम से दूर होती जाती है।"

अजीत अबतक भोजन कर चुका था। जब उठने लगा तो कामिनी जैसे नींद से चौंक उठी हो—बोली—अरे, अभी तो सारा भोजन ज्यों का त्यों ही पड़ा है। नहीं, अभी हाथ मत धोइये थोड़ा-सा और खा लीजिये।

किन्तु अजीत का हृदय भर आया था। मन में सोचने लगा—आज अच्छा आ फँसा! सूखे घावों को खरोंचने के लिये इसे मैं अच्छा मिल गया आज!

कामिनी बोल रही थी—इतने ही दिनों में इतना परि-वर्त्तन! कहाँ तो भोजन के बाद भी सेरों दही और मिठाई खा जानेवाले पेटू थे आप और आज वही पाव-डेढ़ पाव भोजन भी नहीं किया जाता है आपसे?

कामिनी के भोलेपन पर अजीत को हँसी आ गई। बोला—अभी तक तुम्हारा लडकपन गया नहीं है कामिनी।

बिल्कुल अबोध जैसी बातें करती हो; और फिर मन में सोचने लगा—इसे मालूम नहीं शायद, लड़कपन की ऐसी ही भावुकता नारी के सुखी जीवन के लिये कैसा विष हो जाती है।

कामिनी को अजीत के शब्दों में अथाह स्नेह और सहानुभूति के साथ-साथ एक छिपा हुआ दर्द भी अनुभूत हुआ। वह काँप उठी। वार्त्तालाप का प्रसङ्ग उत्तरोत्तर गम्भीर होता जा रहा था। कामिनी ने प्रसङ्ग बदल देना चाहा।

अजीत जब हाथ धोने लगा तो कामिनी ने तौलिया देते हुए कहा – बहुत दिन हुए, आपसे बैडमिंटन की बाजी नहीं हुई है। और हाँ, वे भी (अपने पति के बारे में) आज यहीं हैं--अपने को कुछ समझते हैं, अभी थोड़ी देर में आ जायेंगे--जरा दो हाथ खेल के जाइये न! मुझे हरा दिया तो दुनिया भर के चैम्पियन बन बैठे। अपने को माहिर समझने लगे हैं।

अजीत अपने मन में सोच रहा था—अहा, नारी का यह हृदय कितना सरल, शुद्ध और निष्कपट है! इसे अपने पति और मुझमें जैसे कोई अन्तर ही न दिखाई पड़ रहा हो, हम दोनों को अभी तक यह बाल्य क्रीड़ा के ही साथी समझ रही है। लेकिन इस अबोध नारी को क्या मालूम कि यही भावुकता पुरुषों की आँखों की किरकिरी बनकर उन्हें दुखाती है--जलाती है और तब उनकी निष्ठुर ज्वाला में स्वयँ भी

जलने लगती है।

कामिनी ने जिज्ञासा पूर्वक फिर कहा—क्यों, आज खेलेंगे न आप? उनका राँची ट्रान्सफर हो गया है—परसों शाम की गाड़ी से हमलोग राँची चले जायेंगे।

न इच्छा रहते हुए भी कामिनी के भोले आग्रह पर आखिर उसे कहना ही पड़ा—अच्छा तो खेलूँगा, बस!

फिर जब वह बैठक में जाने लगा तो कामिनी की माँ पर नजर पड़ी। झट से पैर छूकर उसने प्रणाम किया।

कामिनी की माँ ने आशीर्वाद दिया—सुखी रहो बेटा! कुछ देर तक अजीत सकुचाया-सा रहा। फिर आगे बढ़ा तो कामिनी की माँ ने रोकते हुए उससे कहा—क्यों, भागे क्यों जा रहे हो बेटा? ऐसी जल्दीबाजी क्या है? लगता है जैसे यहाँ मच्छड़ काट रहे हों तुम्हें। एक तो इतने दिनों के बाद दर्शन दिये, तिस पर जान छुड़ाने की यह जल्दीबाजी! कमसे कम दुलहिन का समाचार तो बताये जाओ!

पास ही रखी एक मचिया पर अजीत धम्म से बैठ गया और मुस्कुराकर बोला—लीजिये, यह मैं बैठा—अब जितनी बातें पूछनी हों पूछ लीजिये।

इस पर कामिनी ने हँसकर कहा—अच्छा यह तो बताइये—किसी से कुछ बताने के लिये भाभीजी ने आपको मना तो नहीं किया है?

"अगर मैं झूठ-मूठ ही कुछ कह दूँ... ..."

"नहीं, मुझे विश्वास है कि आप झूठ नहीं कहेंगे।"

"वाह कामिनी, तब तो मुझ पर तुम्हारी बड़ी कृपा है!"

कामिनी झेंप गई और हँसती हुई पान बनाने के लिये चली गई।

फिर कामिनी की माँ ने पूछा—सुनती हूँ, तुम्हारी दुलहिन किसी बड़े घराने की बेटी हैं......ब्याह में तो बहुत दान-दहेज मिला होगा बेटा?—माँ के प्रश्न द्व्यार्थक थे। अजीत तनिक तिलमिलाया किन्तु कामिनी की माँ ने उसे सम्भाल लिया—"और तुम्हें दुलहिन कैसी पसन्द आई?"

अजीत ने झिझकते हुए कहा—माताजी, आपके प्रश्न बड़े जटिल हैं। यदि मैं कहूँ कि वह बड़ी सुन्दरी है तो आप कहेंगी कि मैं डींग हाँकता हूँ या मेरी बातों पर आप विश्वास नहीं करेंगी। और यदि यह कहूँ कि वह मुझे पसन्द नहीं आई तो यह अपराध होगा। अब मैं यही नहीं समझ पा रहा हूँ कि आपको किस उत्तर से सन्तुष्ट करूँ।—और अजीत कुछ उदास होकर सामने की ओर ताकने लगा।

कामिनी की माँ ने उसकी उदासी ताड़ ली। पूछा—आज-कल तो शायद वह तुम्हारे ही घर होंगी?

अजीत ने अन्यमनस्क भाव से उत्तर दिया—हाँ, शायद वहीं होंगी।

कामिनी पान बना चुकी थी। पान की तश्तरी अजीत के सामने बढ़ाती हुई वह बोली—तो आपको इतना भी

मालूम नहीं कि वह मैके में हैं या आप के घर में? घर से कोई चिट्ठी नहीं आती है क्या? या भाभीजी को आप रूठा कर आये हैं?

"यह तो तुम उसी से पूछ लेतीं, मालूम हो जाता कि वह स्वयँ रूठी है या मैंने रुठाया है।"

अच्छा, मुझे नाम तो बताइये उनका— पत्र के द्वारा सारी बातें पूछ लेती हूँ उनसे!"

अजीत ने निःसंकोच बता दिया—कानन!

"कानन! अहा, कितना सुन्दर और सुमधुर साहित्यिक नाम है उनका! मैं समझती हूँ उनका यह नाम रखनेवाला व्यक्ति अवश्य ही कोई रसिक साहित्यकार होगा। कानन में तो कलियों के निर्मल हास पर भौंरे मँड़राते रहते हैं, पवन उनके सुन्दर सौरभ को बटोरने में व्यस्त रहता है; लेकिन आप हैं कि मनहूस की तरह उसी कानन में इधर से उधर भटक रहे हैं!"

अजीत मुस्कुरा उठा—ओहो, बड़ा पक्ष लेती हो उसका? कभी मेरी ओर से भी तो बोलो!

अजीत के इस आत्म-समर्पण पर दोनों माँ-बेटी जोर से हँस पड़ीं। सूर्यास्त हो चुका था। संध्या का अन्धकार धीरे धीरे घनीभूत हो रहा था। माँ ने कामिनी से कहा—साँझ हो गई, जाकर बत्तियाँ जला दो बेटी! कामिनी उठी और जाकर सारे स्विच दबा दिये। आँगन विद्युत प्रकाश से

जगमगा उठा।

मचिया पर से उठते हुए अजीत ने कहा—अब मैं चलता हूँ माँ जी !

बीच में ही कामिनी बोल उठी—इतनी जल्दबाजी ही क्या है ! चलिये—दो हाथ बैडमिंटन तो खेल लीजिये ! शायद वह भी शहर से लौट आये होंगे। चलिये देखें, बैठक में होंगे—बाबूजी से बातें करते होंगे; आप का परिचय भी करा दूँ उनसे।

अजीत ने बैठक में प्रवेश किया तो देखा सचमुच ही उसका पति वहाँ बैठकर मैजिस्ट्रेट साहब से किसी राजनीति पर बहस कर रहा था। अजीत के पीछे-पीछे कामिनी भी थी।

अजीत को देखते ही मैजिस्ट्रेट साहब बोल उठे—आओ अजीत आओ, मिस्टर वीरेन्द्र से हाथ मिला लो; और फिर मिस्टर वीरेन्द्र से बोले—यही है वह अजीत जिसके बारे में मैं आप से प्रायः जिक्र किया करता था।

वीरेन्द्र अजीत को देखकर तनिक मुस्कुराया। अजीत ने आगे बढ़कर बड़े सद्भाव से हाथ मिलाया—"गुड इवनिंग मिस्टर !"

वीरेन्द्र ने भी उसके अभिवादन का उत्तर दिया—"गुड इवनिंग मिस्टर !"—और फिर आपस में अन्यान्य बातें होने लगीं।

कोर्ट में नेट लगवाने लगी। मैजिस्ट्रेट साहब यह देखकर मुस्कुरा उठे।

जब नेट टँग गया तो कामिनी बोली—अच्छा तो अब आप लोग उठिये वहाँ से और अपना-अपना बैट पकड़िये।—कामिनी अति प्रफुल्ल और चञ्चल-सी दीख रही थी।

किन्तु वीरेन्द्र को कामिनी की यह हरकत अच्छी न लगी। वह सोचने लगा —एक अपरचित व्यक्ति के साथ जिससे कभी जान न पहचान; भला इस तरह भी कहीं खेल के मैदान में उतरा जाता है!

अजीत और मैजिस्ट्रेट साहब उठकर कोर्ट-यार्ड में उतर आये लेकिन वीरेन्द्र ज्यों का त्यों वहीं बैठा रहा। उसकी आँखों में इर्ष्या के भाव स्पष्ट रूप से अंकित थे।

उसकी अनिच्छा देखकर कामिनी ललकार ही तो उठी—बस, हो गया? केवल मेरे ही आगे डींग हाँकते थे? देख ली आपकी चैम्पियनशिप! आज मिस्टर अजीत से जीत लें तब समझूँ मैं उस्ताद आपको!

अजीत लजा गया। प्रतिवाद करते हुए कहा—मुझे बना रही हो कामिनी?

किन्तु वीरेन्द्र मारे क्रोध के जला जा रहा था—आखिर अजीत से इसकी इतनी दोस्ती क्यों? उसके साम्हने मुझे कुछ समझती ही नहीं यह।

फिर क्रोध छिपाकर कलाई की घड़ी देखते हुए बोला—ओह,

सात बज गये !—और फिर एक सिगरेट सुलगा कर मोटर-साइकिल स्टार्ट करते हुए बोला—अभी तो मुझे स्टेशन जाना है। मेरे साहब आज देहरादून जा रहे हैं—उन्हें 'सी-आफ' करना है।—और मोटर-साइकिल पर बैठकर फुर्र हो गया।'

वीरेन्द्र का यह अशिष्ट व्यवहार कामिनी को बहुत खला। उसके मुँह पर छाये उन इर्ष्या के भावों को वह पढ़ गई थी। वह समझ गई कि 'सी-आफ' तो केवल एक बहाना था। फिर उसे अजीत के तिरस्कार का ध्यान आया। सोचने लगी—अजीत भी मन में क्या कहता होगा! कहता होगा—बड़ा अभिमानी है। मनुष्यता नाम की कोई वस्तु तो इसे छू ही नहीं गई है। कमसे कम शिष्टाचार के नाते भी तो मनुष्य को कुछ करना पड़ता है ! अजीत ?-अहा, कितना ज्ञानवान और सरल स्वभाव का विनयशील युवक है। और ये एस० पी० हैं तो अपने को बहुत बड़ा गिनने लगे। समझते हैं—कहीं का बड़ा नवाब हूँ। सचमुच पुलिस विभाग में काम करनेवाले पढ़े-लिखे लोग भी उजड्ड हुआ करते हैं—यह विभाग ही वैसा है !

कामिनी को अजीत के अपमान का बड़ा दुःख था। उसने सोचा था कि अजीत से वीरेन्द्र का परिचय हो जाने पर दोनों में खूब हिल-मिलकर बातें होंगी,—हँसी-मजाक होंगे,—कहकहों से वातावरण गूँज उठेगा। एक एस० पी० होंगे तो दूसरा एम० ए० में पढ़ने वाला एक रईस कर्नल का बेटा। लेकिन

वह अपनी कल्पना के प्रतिबिंब गंदले पानी के ऊपर देख न सकी।

खेल नहीं हुआ। वीरेन्द्र के इस रूखे व्यवहार से मैजिस्ट्रेट साहब को भी थोड़ा दुःख हुआ, लेकिन वे मौन ही रहे। और अजीत !—जैसे उसने इन बातों पर कोई ध्यान ही न दिया हो।

फिर तीनों बैठक में लौट आये। टेबुल पर एक अङ्गरेजी पत्र रखा था। उसके मुख्य पृष्ठ पर ही एक कार्टून छपा था जिसमें एक बच्चा चाँद के लिये मचल रहा था। बालक के ऊपर लिखा था 'इण्डिया' और चाँद के ऊपर 'स्वराज्य'।

अजीत ने वह पत्र उठा लिया और ध्यान से उस कार्टून को देखने लगा। फिर पत्र को टेबुल पर पटकते हुए वह बोला —देखते हैं सर, अङ्गरेजों की समझ में भारतवासियों के लिये स्वराज्य पाना उतना ही दुर्लभ है जितना एक बालक के लिये चाँद को पकड़ना। अतः स्वराज्य-प्राप्ति के लिये किये गये भारतवासियों के ये समस्त प्रयास साम्राज्यवादियों की दृष्टि में केवल मचलना मात्र हैं। लेकिन उन्हें यह मालूम नहीं कि हिन्दुस्तान आज इतना आगे बढ़ गया है और उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है कि स्वराज्य उसके लिये चाँद की भाँति दुर्लभ नहीं; बल्कि अधिकार की भाँति सुलभ बनता जा रहा है।

मैजिस्ट्रेट साहब को अजीत की बातें बड़ी तर्कपूर्ण लगीं। उन्होंने कहा—भाई देखो, जो शासक है वह अपने शासितों को

दबाकर रखना चाहता है ताकि वे शासक और शासित में कोई वर्ग-भेद ही न समझ सकें। गलत कानून और न्याय के शिकंजों में बन्दकर वे स्वाभाविक जीवन से इतनी दूर कर दिये जाते हैं कि उन्हें इतना भी पता नहीं रहता कि हमारे जीवन के अतिरिक्त भी कोई जीवन है जो हमसे अधिक सुखी और सम्पन्न है! अतः उस सीमित परिधि के अन्दर प्राप्य वस्तुओं को ही वे अपना अधिकार और जीवन समझ लेते हैं। वैसे प्राणियों के लिये सचमुच ही उस परिधि के बाहर का क्षेत्र एक कल्पना-सा प्रतीत होता है।

किन्तु आज—जब देश में हर जगह जागरण के गीत गाये जा रहे हैं—परिधि के अन्दर का जीव भी परिधि के बाहर झाँकने लगा है तो अङ्गरेजी सरकार की चतुर राजनीति कुटिल तर्कों से भारतीयों को बालक और चाँद को स्वराज्य बताकर उन्हें अपने अधिकार से वंचित कर देना चाहती है!

"हाँ, ठीक ही कहा आपने। शासक बाहुबल और बुद्धिबल इन्हीं दो अस्त्रों से निर्बलों और अज्ञानों पर आधिपत्य स्थापित करता है। किन्तु जब शासित बुद्धि और बल में शासकों की समान टक्कर में आ जाता है तो शासक को अपना अधिकार छोड़कर शासितों में मिल जाना पड़ता है। उस मिश्रित वर्ग की सरकार को तब हम गणतन्त्र सरकार कहते हैं।

अपना देश अब काफी आगे बढ़ चुका है। देशवासियों

में स्वतन्त्रता की अभिलाषा दिन-दिन वलवती होती जा रही है। प्राप्त करने के साधन बढ़ते जा रहे हैं। साथ ही साथ देश के नाम पर मरनेवाले देश-भक्तों की संख्या में भी आशातीत वृद्धि होती जा रही है। भला नव जागरण के मधुर गीत गानेवाले ऐसे राष्ट्र-वीरों को परतन्त्र वनाये रखने की भावना तो पहाड़ी नदी में आती हुई प्रबल बाढ़ के वेग को बालू की भीत से बाँध रखने की केवल एक कल्पना मात्र है। वह दिन अव दूर नहीं जब लाल किले पर भारत का तिरंगा झण्डा लहरा कर देश की स्वतन्त्रता की घोषणा करेगा, हम "जन-मन-गण" का गीत गायेंगे।

अजीत की भाषा ओजस्वी भावों से पूर्ण हो गई थी। उसके सरल मुख-मण्डल पर क्रान्तिकारी विचार-धारा उषा में अरविन्द-पटल पर खेलती बाल रवि की अरुण रश्मियों के सदृश ही सुन्दर लग रही थी।

कामिनी उसकी बातें सुनकर मन ही मन मुस्कुरा रही थी। उसने भी अपने तर्क पेश किये—जब देश इतना आगे बढ़ चुका है तो फिर आजादी क्यों नहीं प्राप्त करता?

मैजिस्ट्रेट साहब उसकी बातों का उत्तर देने ही वाले थे कि अजीत बोल उठा—देखो कामिनी, जिस प्रकार एक परिवार के सारे सदस्य उसके मुखिया के ऊपर निर्भर रहा करते हैं—ठीक उसी प्रकार हमारे देश की सारी जनता भी थोड़े-से ही राष्ट्र-सेवा के भार-वाहकों पर निर्भर रहती है। परिवार

का मुखिया अधिक से अधिक परिश्रम कर भी धनोपार्जन करता है और सारे परिवार को सुख पहुँचाता है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिये कि परिवार का मुखिया भी परिवार के शेष सारे सदस्यों की श्रद्धा और सहानुभूति पाकर ही अधिक से अधिक परिश्रम करने की प्रेरणा पाता है। किन्तु जब वह मुखिया कमाने के लायक नहीं रह जाता या केवल उसी के परिश्रम से सब के पेट नहीं भर पाते तो परिवार के सदस्यों में से अन्य लोग भी कमाने की चिन्ता करते हैं। ठीक उसी प्रकार आजादी प्राप्त करने के लिये प्राण देनेवालों के परिश्रम का मीठा फल भोगने वालों का भी है। आज आजादी चाहने वाले सभी हैं किन्तु उसके लिये प्राणों की आहुति देने वाले बहुत कम हैं। किसी खोये हुए अधिकार की पुनर्प्राप्ति के लिये एक महान बलिदान की आवश्यकता पड़ती है। यही देख लो न, किसी बेदखल जमीनवाले को अपनी जमीन पर फिर से कब्जा जमाने में कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं!

बीच ही में मैजिस्ट्रेट साहब बोल उठे—सो तो ठीक है, लेकिन आजादी पाने में अभी थोड़ी देर है। जब तक देश का बच्चा-बच्चा यह न समझ लेगा कि हम गुलाम हैं और हमारा शासक सात समुद्र के पार हमारा खून चूँस-चूँस कर लाल हो रहा है—तब तक आजादी प्राप्त करना स्वप्न तो नहीं; लेकिन कठिन अवश्य है।

फिर कामिनी ने अपने तर्क पेश किये। उसने कहा— हमारे देश में स्वतन्त्रता प्राप्त करने की पर्याप्त शक्ति हो चुकी है किन्तु हमारा अहिंसात्मक आदर्श कि हमें आजादी दो; अन्यथा हम भूख हड़ताल करेंगे; यह तो ठीक उसी प्रकार की एक भिखमङ्गी प्रवृति है जैसे कोई व्यक्ति लुटेरों के द्वारा लूट लिये जाने पर भी गिड़गिड़ाता है—"मुझे मेरा धन लौटा दो!" मेरी समझ में तो आजादी माँग कर प्राप्त करने की वस्तु नहीं; बल्कि बाहुबल से प्राप्त होती है—और वह बाहुबल हमारे देश में है कि नहीं; अभी यह अज्ञात है।

"लेकिन वह समय अब दूर नहीं। क्रान्तिकारी भावों से देश के नौजवानों का खून गरम हो चुका है। पीड़ित भारतीयों की कराहें, कोटि-कोटि संतप्त हृदयों की चीत्कारें रण-घोष की गम्भीर गर्जना बन कर शीघ्र ही दिग्दिगन्तर में गुञ्ज उठेंगी। लोगों को यह मालूम नहीं रहता कि ज्वालामुखी कब फूटेगा; किन्तु जब उसके गर्भ में अनल-पुञ्जों की ज्वाला असह्य हो उठती है तो अनायास ही एक भीषण बिस्फोट होता है। तब दुनियावाले जानते हैं कि उसके अन्दर कितनी ज्वाला छिपी हुई थी।

अजीत की जोशीली बातें सुनकर मैजिस्ट्रेट साहब भी राष्ट्रीय भावनाओं से भर उठे। वह कुछ बोलने ही वाले थे कि वीरेन्द्र की मोटर साइकिल जोरों की आवाज करती हुई आ पहुँची। वह मोटर साइकिल से उतरा और उसे स्टैण्ड

पर खड़ी कर बैठक में आ धमका। वहाँ पर कामिनी को भी उपस्थित देखकर वह ईर्ष्या और क्रोध से जल उठा। बैठक में वह रुका नहीं। अजीत और मैजिस्ट्रेट साहब उससे कुछ पूछने ही वाले थे कि एक बार कामिनी को जोरों से घूरकर देखा और फिर तेजी से आँगन में चला गया। अजीत ने सामने देखा तो दीवाल पर टँगी 'जाज़' साढ़े चार बजा रही थी। उसने मैजिस्ट्रेट साहब से कहा—ओह, बातों में ही साढ़े आठ बज गये सर !—और फिर कुर्सी पर से उठते हुए बोला—अब चलता हूँ सर !

मैजिस्ट्रेट साहब बोल उठे—अरे, इतनी जल्दीबाजी ही क्या है? जरा भोजन तो कर लो। न मालूम फिर कितने दिनों के बाद दर्शन दोगे।

अजीत ने कहा—मुझे तो बिल्कुल ही भूख नहीं, शाम को खाया हूँ न ? केवल एक गिलास जल चाहिये।

कामिनी उठी और एक काँच के गिलास में सुराही का ठण्डा जल भर लाई। अजीत ने जल पी लिया किन्तु कामिनी कुछ न बोली।

जब मैजिस्ट्रेट साहब ने देखा—अब यह नहीं रुकेगा तो ड्राईवर से कहा—बाबू को होस्टल पहुँचा आओ।

मैजिस्ट्रेट साहब को नमस्ते कर जब उसने कामिनी की ओर देखा—तो देखा—दो मछली जैसी भावपूर्ण आँखें उसी की ओर देखकर पूछ रही थीं—"क्या मुझसे अब तेरा

लीन था। कार के चक्कों की ही भाँति उसके भी मस्तिष्क के चक्के घूम रहे थे।

कार जब कालेज-होस्टल के गेट पर मुड़ी तो अजीत का ध्यान टूट गया। फिर होस्टल के बरामदे में जाकर गाड़ी रुक गई। अजीत झट गाड़ी से बाहर निकल आया। उसी क्षण ड्राईवर सलाम बजाकर लौट गया। अजीत होस्टल की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। मन में सोच रहा था—मैं व्यर्थ ही आज वहाँ गया। नहीं जाता वही अच्छा होता। केवल एक सिर-दर्द के सिवा और मिला ही क्या वहाँ ? हम दोनों के सूखे घाव क्षण भर के मिलन से हरे जो अवश्य हो गये। ना, भविष्य में कामिनी से मुझे फिर कभी नहीं मिलना चाहिये। हम दोनों के जीवन के लिये यह घातक होगा।

उसने जैसे ही अपने कमरे में प्रवेश किया कि देखा—उसकी सीट पर एक लिफाफा पड़ा था। कमरे की बत्ती जल रही थी। एक दूसरी सीट पर उसका रूमेट लेटे-लेटे पुस्तक पढ़ रहा था।

अजीत ने धड़कते हुए हृदय से झट लिफाफा उठा लिया। एक ही नजर में उलटा-पलटा कर पहले देख लिया। भेजने वाले का नाम था—कानन। उसका व्यथित हृदय पुलकित हो उठा। लिफाफा फाड़कर पत्र पढ़ने लगा—

"मेरे मन्दिर के देव !

जब कानन का वसन्त आज उससे दूर है; तो किन फूलों से

वह अपने प्रियतम को रिझाये, मैं इसी उहापोह में बैठी केवल अश्रु-फूलों से ही देव के श्री चरणों की पूजा कर रही हूँ। हृदय में आशा ही नहीं; बल्कि अटल विश्वास भी है कि दासी का यह तुच्छ प्रयास देव अवश्य स्वीकार करेंगे।

कभी-कभी जब मैं जीवन और जगत की कठोर सत्यता पर मनन करने लगती हूँ तो मुझे ज्ञात होता है जैसे मैं अभावों के गहरे सागर में डूबी होऊँ। जीवन में पैर रखते ही माँ-बाबूजी की स्नेह-छाया चिर काल के लिये उठ गई। यौवन पाकर प्रियतम के घर आई तो प्यार परदेसी हो गया। सास-ससुर में माता-पिता की छाया ढूँढ़नी चाही तो सारे प्रयत्न असफल रहे। जब भी मैं भावुकता के प्रवाह में आगे बढ़ी हूँ—भौतिक संसार की कठोर सत्यता ने मुझे जोरों से डाँट दिया है।

आपका प्यार पाकर मैं सारे अभावों को भूल गई थी। जब आप मुझ पर खुश थे—आपकी कृपा मुझे पत्र के रूप में प्राप्त होती रहती थी। पत्र पढ़ते समय मेरे नयन-पुतलों पर आपकी मोहिनी रूप-छबि अंकित हो उठती थी। तब मैं आत्म-विभोर होकर वियोग के सारे कष्टों को भूल जाती थी।

मेरे निष्ठुर देव! किन्तु मन्दिर की पाषाण प्रतिमा की भाँति आप भी पाषाण ही निकले। शायद अपना अधिकार ढ़ूँढ़ने के लिये ही आप ने मेरा अधिकार छीन लिया। मैं तो यही समझूँगी कि मेरे सौभाग्य से आपको जलन है।

फिर मैं उस योग्य ही कहाँ कि आप मुझसे प्रतिदान की आशा रखें। आप मेरे श्रेष्ठ हैं; श्रेष्ठ होकर तो हृदय में दया और दान का भाव अघट रखना ही होगा ?

सभ्य समाज में नारी कुल की मर्यादा है। उस मान-मर्यादा की रक्षा में लिये उसे मूक बन जाना पड़ता है। मनोभावों पर नियन्त्रण का संयम उसे इतना दुर्बल और हीन बना देता है कि उसके पास ऐसी कुछ वस्तु बच ही नहीं जाती जिसे दाता बनकर वह दान कर सके अथवा महाजन बनकर जीवन के सुख-सौंदर्य का क्रय-विक्रय कर सके। फिर नारी की कुछ ऐसी भी तो मजबूरियाँ होती हैं जिन्हें वह अभिव्यक्त नहीं कर सकती; और न तो चाहतो ही है ! तब पुरुषों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उदार हृदय लेकर उसके पास जायँ और उसकी आँखों को मूक भाषा को पढ़कर निःस्वार्थ प्रीति-दान देकर उसके फूल-से सुकुमार जीवन को सौरभ से भर दें।

बस, इतना ही—

और हाँ, एक बात तो कहने के लिये मैं भूल ही गई—बाबूजी एक दिन शाम को सैर से लौट रहे थे कि टमटम से गिर पड़े। चोट उन्हें काफी लगी थी। पन्द्रह दिन तक सदर अस्पताल में भी रहे। अब वह ठीक हैं किन्तु दायाँ पैर अच्छी तरह सीधा नहीं होता। चलने-फिरने में बड़ा कष्ट होता है। मैं समझती हूँ, इसकी सूचना आपको नहीं भेजी गई अन्यथा उनको देखने के लिये आप अवश्य आते।

आपको आश्चर्य और क्षोभ होगा कि माँ-बाबूजी ने ऐसा क्यों किया ? लेकिन आपकी पढ़ाई को निर्विघ्न रखने के लिये ही उन्होंने ऐसा किया और सम्भवतः आपको पत्र लिखने की मनाही भी मुझे इसीलिये की गई है। खैर ! माँ-बाबूजी से आपको कोई शिकायत नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वे जो कुछ भी करते हैं—हमलोगों की भलाई और कल्याण के लिये ही करते हैं। अब रही बात मेरी। सो तो यदि आप मुझ पर रुष्ट भी रहेंगे तो उसे भी मैं अपना सौभाग्य ही समझूँगी।

अच्छा, प्रणाम !

आपकी दासी—कानन !"

पत्र समाप्त करते-करते अजीत का हृदय भर आया था। उसका मन चाह रहा था कि किसी निर्जन में जाकर वह जी भर आँसू बहा आये ! उसने कानन के प्रति जो भी धारणायें बना रखी थीं वे सारी की सारी निर्मूल निकलीं। उसे स्वयँ अपने आप पर ग्लानि हो आई। वह सोचने लगा—अहा, गाँव की यह अल्प शिक्षिता लड़की—भोली-भाली कानन भी अपने सरल और निष्कपट तर्कों से मुझे परास्त कर देने के लिये पर्याप्त है।

अतः कानन के प्रति उसके हृदय में स्नेह और प्यार का सागर उमड़ आया। वह चाहता था—कानन के पास जाकर जी भर रोऊँ, उसके पैर पकड़ लूँ, उससे क्षमा माँगू—उसके सामने अपना हृदय खोलकर रख दूँ अथवा उसे ही हृदय में

बैठा लूँ।

और अपने माता-पिता के प्रति ?—वह सोच रहा था—आह, आज के इस विषम आर्थिक युग में मानव का जीवन कितना अप्राकृतिक हो गया है! माँ-बाप कोभी अर्थ-लिप्सा का शिकार होकर या एक झूठा मान और आडम्बर खरीदने के लिये अपने हृदय के प्यार को भी पैसों के हाथ बेच देना पड़ता है। केवल एक महत्त्वाकाँक्षा की पूर्ति के लिये वे छाती पर पत्थर रखकर अपने नन्हें सुकुमार बालक को भी कोलाहलमय संसार की उमड़ती हुई नदी में फेंक देते हैं। मैं कहीं फेल न हो जाऊँ बल्कि खूब पढ़-लिखकर किसी ऊँचे ओहदे पर बैठकर चाँदी काटूँ; केवल इन्हीं आकाँक्षाओं की पूर्ति के लिये बाबूजी ने मुझे ऐसी दुर्घटना का भी सम्वाद नहीं दिया।

और माँ? उससे कैसे रहा गया? अवश्य ही युग के कलुषित परिवर्त्तनों के साथ-साथ मोम-सा नारी-हृदय का वह सरल और स्निग्ध मातृ-रूप भी परिवर्तित हो गया है!

इन्हीं विचार-धाराओं में डूबता-उतराता वह सो गया।

सबेरे जब उठा—उसका मन कुछ हल्का लगा। दो बजे की गाड़ी से उसने घर जाने का निश्चय किया फिर उसे याद आई---अरे, कल शाम को कामिनी भी तो जा रही है! यदि कल उसे स्टेशन तक छोड़कर परसों सबेरे की गाड़ी से जाऊँ?—लेकिन फिर दूसरे ही क्षण उसके मन ने उसे डाँटा--

"यही भावुकता तो तुम्हें मारे डालती है। कामिनी तुम्हारे जीवन की एक प्रतिकूल धारा है। अनुकूल है तो कानन। यदि जीवन में सुख और शान्ति चाहते हो तो कामिनी को भुला कर कानन को अपनाओ!

और उसने भी ऐसा ही करने का निश्चय किया। उसी-दिन दोपहर को वह घर के लिये रवाना हो गया। उस समय करीब डेढ़ बज रहे थे जब कि वह स्टेशन के पास चौराहे से गुजर रहा था। वहीं कामिनी से उसकी भेंट हो गई। वह अपनी माँ के साथ कुछ सामान खरीदने के लिये बाजार आई हुई थी। वह कार में बैठी हुई थी और ड्राईवर हाँक रहा था।

अजीत को जल्दीबाजी में उस भाँति घबड़ाया हुआ-सा देखकर कामिनी पूछ बैठी—कहिये, कुशल तो है!

अजीत ने एक बार उसकी ओर तनिक मुस्कुराकर देखा और फिर उसे वह कानन वाला पत्र थमाकर उसकी माँ से नमस्ते कह कोचवान से तांगा बढ़ाने के लिये बोला। कोचवान की सपसपाती हुई तेज चाबुक खाकर घोड़ा भाग पड़ा और जन-समूह की आती-जाती भीड़ में जल्द ही विलीन हो गया।

कामिनी का बाजार करना समाप्त हो चुका था। अब वह घर लौट रही थी। हृदय में एक उत्सुकता लिये मौन होकर पत्र पढ़ने लगी। और फिर पत्र पढ़ चुकने के बाद पुनः उसे उसी लिफाफे में डालती हुई मन में सोचने लगी—अहा, कितनी

सुन्दर जोड़ी है इन दोनों की ! ठीक जैसे चाँद और-चकोर की हो।—और फिर एक निश्वास लेकर सामने की ओर देखने लगी। ड्राईवर कार हाँके जा रहा था। सड़क के दोनों ओर की सजी-सजाई सुन्दर-सुन्दर दुकानों की पंक्तियाँ और व्यस्त नागरिकों का रेल-पेल; सभी एक-एककर पीछे छूटते जा रहे थे।

कामिनी की माँ ने मौन भंग करते हुए पूछा—यह किसका पत्र है बेटी ?

कामिनी ने कुछ खोये हुए शब्दों में उत्तर दिया—अजीत की दुलहिन कानन का।

कामिनी की माँ तनिक मुस्कुराईं। फिर बोलीं—किन्तु पत्र पढ़कर तुम उदास क्यों हो गईं बेटी ?

कामिनी अपने ध्यान में मग्न थी। वह सोच रही थी अजीत के बारे में—अजीत की इस कानन के बारे में। वह सोच रही थी— कानन ?—

तो क्या सचमुच ही वह कानन है ?—और मैं हूँ कामिनी ! फिर भी अपने प्रियतम की नजरों में मेरा कोई मोल नहीं। इसे तो मैं अपने भाग्य का ही दोष कहूँगी न ?

हार्न बजाती हुई कार आगे की भीड़ को चीरती-फाड़ती धीरे-धीरे आगे बढ़ी जा रही थी।

माँ ने फिर पूछा—तुम उदास क्यों हो गईं बेटी ?—इस बार माँ के शब्दों में घबड़ाहट प्रतीत हुई कि कामिनी ने देखा—

सड़क के किनारे बेचनेवाले छोटी पूंजी के गरीब फेरीवालों को पुलिस पकड़ रही थी। वह माँ से बोली—देखती हो माँ, इन पुलिसवालों की धाँधली से बेचारे गरीब रोटी भी नहीं कमा पाते।

फिर उसने देखा—एक पुलिस एक फलवाले को पकड़कर थोड़ी दूर एक गली में ले गया। फलवाले ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—आज कुछ बिक्री-बट्टा हुआ नहीं सिपाही जी; चार आने ले लीजिये!

सिपाही ने उस फलवाले की कमीज का कालर पकड़कर झकझोरते हुए कहा—अबे, रुपया से कम नहीं लूँगा; और जोरों से एक बार फिर झकझोरा। फलवाले की टोकरी से कई फल गिरकर सड़क पर बिखर गये। कामिनी की कार आगे बढ़ चुकी थी।

कामिनी ने माँ से कहा—देख लिया न माँ, इन शान्ति-दूतों की शान्ति-रक्षा तो देखो! सियारों से मेमनों की रक्षा के लिये रखे गये ये कुत्ते मालिक की आँखें बचाकर मेमनों को ही खा बैठते हैं।

"हाँ बेटी, यह दुनिया है! हर रोज यहाँ इसी तरह की घटनाएँ घटा करती हैं। जो गरीब हैं; दुर्बल हैं—उन्हें इस दुनिया में जीने का कोई अधिकार नहीं। उन्हें सर्वत्र घृणा, तिरस्कार और प्रताड़ना के सिवा और कुछ नहीं मिलता।"

कामिनी को माँ के उन शब्दों में संसार का कटु सत्य

अनुभूत हुआ। मौन होकर कुछ ऐसी ही समस्याओं पर वह मनन करने लगी।

और जब एकाएक ड्राईवर ने कार रोक दी तो उसका ध्यान टूटा। उसने देखा—बगल में उसका पति 'मिस्टर वीरेन्द्र मोटर साइकिल को रोककर उससे पूछ रहा है–"बाजार करने आई थीं, खरीदने को कुछ बाकी तो नहीं रहा कामिनी ?"

सड़क पर माँ के सामने ही पति के ऐसे व्यंगात्मक प्रश्न पूछना उसे अच्छा न लगा। अतः अनमने भाव से ही वह बोली—कुछ नहीं।

मिस्टर वीरेन्द्र ने एकबार उसे टेढ़ी दृष्टि से देखा और फिर साइकिल स्टार्ट कर भीड़ में विलीन हो गया।

कामिनी को पति की वह दृष्टि बड़ी खूँखार लगी। उन आँखों में क्रोध की उतरती हुई लालिमा को उसने स्पष्ट देख लिया था। कामिनी की माँ इन सब बातों को समझ न सकीं।

जब कामिनी घर पहुँची और खरीदे हुए कपड़ों का बण्डल लेकर अपने कमरे में घुसी तो देखा उसने—मिस्टर वीरेन्द्र कपड़े बदल रहा था। कामिनी को देखकर वह मुस्कराते हुए बोला—देखूँ कामिनो, क्या-क्या चीजें खरीद कर लाई हो--जरा मुझे भी तो दिखाओ।

पति की बातों में कुछ मिठास पाकर कमिनी प्रसन्न हो

उठी। वह लजाकर पलंग पर बैठ गई और कपड़े का बण्डल खोल, एक-एक कर सारे कपड़े वीरेन्द्र को दिखाने लगी।

साड़ियों को देखकर वीरेन्द्र बोल उठा—सचमुच कामिनी, इन साड़ियों को पहनकर तुम उर्वशी-सी सुन्दरी लगोगी!

कामिनी झेंप गई। लज्जा की अरुणिमा उसके गोरे मुख-मंडल पर गुलाबी पोतने लगी थी।

फिर वीरेन्द्र ही बोला—क्यों, प्रियतम को ऐसे नहीं रिझा सकीं क्या? बड़ा कठोर तपस्वी है वह भी!

शर्म से भरे अस्फुट स्वर में कामिनी बोली—बिल्कुल ही पत्थर।

"और तुम हो कि पत्थर को भी पिघलाकर ही छोड़ोगी!"

"अवश्य! वह सौन्दर्य ही क्या, जो पाषाण को भी भेद न दे—पिघलाकर पानी न बना दे! फिर बोली—अच्छा, अब हँसी-मजाक की बातें जाने दीजिये—यह तो बताइये कि ये साड़ियाँ आपको पसन्द आईं कि नहीं? मुझे तो इनका रंग बहुत अच्छा जँचा।"

"वाह, वाह! साड़ियों का क्या पूछना! ऐसी सुन्दर-सुन्दर साड़ियाँ और तिसमें किसी प्रेमी का उपहार! फिर मुझे ही पसंद न आये भला!"

कामिनी वीरेन्द्र के इस तीखे व्यंग को समझ न सकी।

उसने कहा—लेकिन रुपये तो आपने नहीं दिये, फिर यह उपहार आपका कैसे ?

वीरेन्द्र ने भृकुटी टेढ़ी कर शब्दों पर जोर देते हुए कहा—लेकिन मैं कहता ही कब हूँ कि यह मेरा दिया हुआ उपहार है !

कामिनी को पति की टेढ़ी भृकुटी बड़ी भयानक लगी। उसने घबड़ा कर पूछा—तब फिर ?

"यह तो तुम अपने हृदय से ही पूछ लेतीं ?"

अब कामिनी समझ गई कि इतनी बातें हँसी नहीं; बल्कि व्यंग थीं। उसका हृदय क्रोध से जला जा रहा था। उसने झड़प कर कहा—जो कुछ कहना है—आप साफ-साफ क्यों नहीं कह देते ?

"मैं यही नहीं समझ पा रहा हूँ कामिनी, कि तुम्हें समझाने के लिये कुछ बाकी भी है !"

क्रोध के मारे कामिनी के होंठ काँपने लगे थे। उसके जीवन में यह पहली ही बार उसके चरित्र पर कोई आरोप लगा रहा था। उसने कपड़ों को समेट कर आलमारी में फेंक दिया और तुनक कर कमरे से बाहर जाने लगी कि वीरेन्द्र पूछ बैठा—ये दोनों साड़ियाँ तो दो रंग की हैं ?.........और फिर बोला—मालूम होता है, एक रंग तुम्हारे पसन्द का है—दूसरा उसके पसंद का !

कामिनी बिगड़ कर बोली—'उसका' से क्या मतलब आपका ?

साफ-साफ क्यों नहीं कह देते ?

वीरेन्द्र ने आँखें चढ़ाकर कहा—ओ···हो···नहीं समझीं तुम ? वही अजीत—जिसके लिये तुम दिन-रात तड़पा करती हो।

अजीत का नाम सुनते ही कामिनी की आँखों में अँधेरा छा गया। असहाय होकर कुछ क्षणों तक तो एक टक वीरेन्द्र की ओर देखती रही, फिर संयत होकर बोली—और तो कभी आप ऐसा नहीं बोलते थे, फिर आज क्यों अनाप-सनाप बोल रहे हैं आप ?

"इसलिये कि मेरी आँखों ने आज हकीकत देखी है। तुम समझती हो कि मुझे कुछ पता नहीं होगा; किन्तु अजीत को मैंने स्टेशन-रोड पर देखा है, अवश्य ही वह भी तुमलोगों के साथ था। न जानें, मेरी आँखों में धूल झोंककर इसी तरह कितनी ही बार उसकी प्यासी प्याली में 'मदिरा ढालती होगी तुम !"

कामिनी इन वाणों को सहन न कर सकी। कमरे से बाहर निकल गई और माँ के कमरे में जाकर पलंग पर पड़ी फफक-फफक कर रोने लगी।

माँ को जब उसके रोने का हाल मालूम हुआ तो घबड़ाई हुई वह उसके पास गईं और रोने का कारण पूछने लगीं; किन्तु लाख पूछने पर भी कामिनी कुछ बोली नहीं, केवल आँसू अधिक बहा देती थी।

मैजिस्ट्रेट साहब जब कोर्ट से लौटे तो कामिनी के रोने की बात सुनकर वह भी उसके पास गये। ज्योंही वह बरामदे पर चढ़े कि देखा—लाल-पीली आँखें लिये वीरेन्द्र 'बाहर जा रहा था। मैजिस्ट्रेट साहब ने एकबार उसे सिर से पैर तक घूर कर देखा किन्तु कुछ बोले नहीं; और उल्टे पाँव बैठक में लौट कर सिर थामे आराम-कुर्सी पर लेट गये।

(१४)

कुसुमलता का स्वास्थ्य फिर पहले जैसा ही लौट आया था। उसे देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि पहले की कुसुमबाई और आज की कुसुमलता में कोई अन्तर भी है। अन्तर था तो केवल इतना कि रंगीन साड़ी-चोली की जगह अब उसके अंग पर पतली किनारी की एक सफेद साड़ी थी। रूप वही था, किन्तु उसमें शृङ्गार न था। अब वह अपने रूप के किसी सौदागर के इन्तजार में पान लगाकर घंटों बैठी नहीं रहती थी। नागिन-सी लम्बी-लम्बी लटें, जिनमें कभी कलियों का सुन्दर शृङ्गार होता - अब किसी विधवा के बिखरे अरमान-सी प्रतीत होती 'थीं।

उस दिन वह अपने दोतल्ले के सामनेवाले कमरे में एक कुर्सी पर बैठकर उदास भाव से आकाश में काली-काली घटाओं का मनहर विचरण निहार रही थी। छिट-फुट बूँदें भी पड़ रही थीं। कुछ दूर पर एक नीम के पेड़ की शस्य श्यामल टहनियाँ सावन की बौछारों से धुलकर सद्यःस्नाता की भाँति ही प्रशस्त और प्रफुल्ल लग रही थीं। घोंसलों में बैठे पक्षी शान्त भाव से किसी मूक कवि की भाँति सावन के उस सरस सौंदर्य का अवलोकन कर रहे थे।

काशी नगरी का सावन था वह। झूलन की तैयारी खूब जोर-शोर से हो रही थी। कुसुमलता उठकर छज्जे की ओर बढ़ी तो उसने देखा—नीचे सड़क पर खूब चहल-पहल थी। कोई केले के थम्भ लिये जा रहा था तो कोई अशोक की हरी-भरी टहनियाँ लादे लिये जा रहा था। झूलन गत् तीन-चार दिनों से ही आरम्भ हो चुका था। झाँकी की सजावट नित्य नवीन-नवीन और अन्याय ढङ्गों से हुआ करती। रसिक भक्तों में सजावट की बाजी मार ले जाने की एक होड़-सी लगी हुई थी।

कुछ देर तक तो वह छज्जे पर खड़ी-खड़ी नीचे सड़क पर का दृश्य देखती रही। करीब पाँच का समय हो रहा था। सड़क की आती-जाती भीड़ में उसे एक अद्भुत उत्साह और उल्लास का परिचय मिला। सजावट के लिये आज उसका भी मन मचल उठा था। बहुत दिनों के बाद आज उसके

हृदय में शृङ्गार और सजावट की भूख जाग उठी थी। वह चाहती थी—"जब विद्युत प्रकाश में झाँकियाँ जगमगा उठें तो मैं पैरों में घुँघरू बाँधकर नाचने लगूँ, वीणा के तारों पर राग छेड़कर सँवरिया को रिझा लूँ; और जब दर्शक मेरे भजन को सुनकर चित्र-लिखित-से हो जायँ और मैं घूँघट की ओट से मुस्कुराकर नटखट छलिया को निहारूँ तो राधा मुझे तिरेरती आँखों से देखने लगें, उनकी बड़ी-बड़ी चञ्चल आँखें साकार होकर मुझसे ईर्ष्या करने लगें।"

वह इन्हीं विचारों में खोई-सी नीचे सड़क का दृश्य देख रही थी कि कुछ मनचले युवकों की एक टोली देखकर उसका ध्यान टूटा। उसने अमीरों के कुछ आवारे छोकड़ों को अद्धी के चुननदार कुरते में, भर मुँह पान भरे, कुत्सित दृष्टि से अपनी ओर नजर फेंकते देखा। हँस-हँसकर वे आपस में क्या बातें कर रहे थे—कुसुमलता ने नहीं सुना। हाँ, उनके हावों-भावों से इतना तो वह समझ ही गई कि उसके रूप और यौवन पर जल मरनेवाले वे पतंगे सड़क पर ठण्डी आहें भरते हुये जा रहे थे। उसे उनकी कुटिल दृष्टि बड़ी घिनौनी लगी। वह वहाँ से हट आई और कमरे में आकर कुर्सी पर बैठ गई। फिर सोचने लगी—"क्या मिट्ठू दादा भी इन शहरवालों की ही भाँति मीठी-मीठी बातों से मुझे ठग लेगा? लेकिन सरल हृदय वाला वह बूढ़ा व्यक्ति मुझे ठगेगा ही क्यों? उसका क्या स्वार्थ है?"

और उसने इसका उत्तर जब अपने हृदय से पूछा तो जवाब मिला—"नहीं, कदापि नहीं। चाहे और जो कुछ हो, लेकिन मिट्ठू दादा तुझसे छल नहीं कर सकता। उस दिन तू ने देखा नहीं?—जाते वक्त बेचारे बूढ़े की आँखों में किस भाँति आँसू छलछला आये थे?" कुसुमलता इसी तरह के अनेक तर्क-वितर्कों में उलझी रही। छः बज चुके थे। बदली का अँधेरा दिन शुरू शाम में ही रात्रि का रूप धारण कर रहा था। चौवाई के ठंडे झोंके उसके उन्नत उरोजों के बीच ठीक उसके सीने से टकरा जाते थे। दासी आई और कमरे की बत्तियाँ जला गई। प्रकाश कुसुमलता के चारों ओर नाच उठा। दासी को उसने आवाज दी। वह कमरे में आई तो कुसुमलता ने उसे संकेत किया। दासी उसे एक अलवान थमाती हुई बोली—"आपसे एक आदमी मिलना चाहता है सरकार······" और फिर उत्तर की प्रतीक्षा में उसका मुँह निहारने लगी।

कुसुमलता बोली—उससे कह दे गौंगी, अब मैं वेश्या बन कर बाजार में नहीं बैठती। मैंने वह पेशा छोड़ रक्खा है!

"किन्तु यह तो कोई सज्जन आदमी-सा लगता है सरकार!"

कुसुमलता ने अन्यमनस्क भाव से उत्तर दिया—"हुँ..., होगा···!" और मनमें सोचने लगी—"मेरे शरीर में जब से पानी चढ़ा, किसलयों में कलियाँ कसीं—तब से मैं यही देखती

कहता था।"

"तो कुछ तय हुआ बेटी?" माँ के शब्दों में अर्थ-लिप्सा का भाव था।

झुँझलाकर कुसुमलता बोली—"माँ, काशी-वासियों की नजरों में अब तक मैं केवल एक वेश्या ही रही। यहाँ के कितने ही रईस मेरे रूप के ग्राहक रह चुके हैं, मेरी कितनी ही रातें शहर के पैसेवाले शरीफों के पलङ्ग पर कटी हैं; फिर आज उनके सामने भगवान के मन्दिर में मैं नाचूँगी किस मुँह से? नहीं, नहीं, मैं अब काशी की महफिल में नहीं बैठ सकती माँ! मैंने उस व्यक्ति से बहाना कर दिया कि उसकी बात कहीं अन्यत्र पक्की हो चुकी है।"

कुसुमलता की वैसी रूखी-रूखी बातों से उसकी बूढ़ी माँ को अत्यन्त निराशा हुई। अपने लम्बे जीवन के अनुभवों का सहारा लेकर उसने प्रश्न का उसपर दूसरा जाल फेंका—"बेटी, तुम तो आजकल भगवान का पूजा-पाठ किया करती हो, फिर भगवान की सेवा में यह चूक क्यों? उनसे जान छुड़ाने के लिये झूठ बोलकर आज तुमने इतना बड़ा पाप क्यों सिर पर लिया? नाच-नाचकर, गा-गाकर भगवान को रिझाना; यह भी तो उनकी पूजा ही है? भगवान को रिझाने के लिये मीरा ने क्या नहीं किया? फिर तुम क्यों झिझकती हो? और फिर नाचना-गाना तो हमलोगों का पेशा है! अपनी रोजी को भी कोई लात मारता है! उसे तुम्हें विमुख नहीं

करना चाहिये था बेटी !"—और लोलुप दृष्टि से वह कुसुमलता की आँखों में झाँककर अनुकूल उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी।

कुसुमलता चिढ़कर बोली—काशी के मन्दिरों में अब भगवान नहीं रहे माँ! काशी वैकुण्ठ है; हाँ, थी कभी। किन्तु अब यदि बैकुण्ठ है तो केवल पैसेवाले विलासियों के लिये। मन्दिरों के पुजारी भी रूप और यौवन के क्रय-विक्रय की दलाली करने लगे हैं। बैकुण्ठ-प्राप्ति की अभिलाषा से काशी में वास करने वाली धनी घरों की जवान विधवाएँ गंगा के घाटों पर शिकार ढूँढ़नी फिरती हैं। इतना होने पर भी यदि काशी को स्वर्ग ही कहें तो फिर धरती का नर्क कहाँ होगा माँ? ना, ना, काशी से अब देवों का वास उठ गया। इन मन्दिरों की मूर्तियाँ रसिक कलाकारों की केवल कल्पना मात्र रह गई हैं आज। मैं ऐसे मन्दिर के देवों के सामने वेहया बनकर अब नाच नहीं सकती माँ! उस दिन देखा था न, शिव चतुर्दशी के दिन जब मैं तानपूरा लेकर विश्वनाथ मन्दिर में गाने बैठी तो रुपये आरती की थाल में न गिरकर मेरे अंचरे पर गिर रहे थे जैसे मन्दिर को गिरिजा मैं ही रही होऊँ या मुरारी-मन्दिर की राधिका होऊँ! देखा था न, नारी के मोहक सौंदर्य के आगे भगवान के भक्त लोग भी किस भाँति पिघल जाते हैं आज!

"अच्छा बाबा, मन में जो आवे वही करो। मुझे क्या?

बहुत तो दो-चार साल और जीऊँगी; पड़ेगा तुम पर—जैसे चाहो संभालो !"—और खीझकर वह दूसरे कमरे में चली गई। रात्रि का समय आठ के ऊपर हो चुका था। गाँगी चौके में रसोई बना रही थी। कुसुमलता भी उठी और कपड़े बदलकर शौच के लिये जाने लगी। बरामदे के कल पर जब लोटे में पानी लेने लगी तो उसने सुना—दूसरे मकान में कोई सुहागिन सुमधुर स्वर में कजरी गा रही थी—

झूला लगे कदम की डारी
झूले कृष्ण मुरारी ना।

वह सोचने लगी—आज के रसिक नर-नारियों को अपने मन के भावों को प्रकट करनेके लिये बेचारे राधा-कृष्ण की आड़ भी अच्छी मिल जाती है !

ऐसे ही अनेक विचारों से आज उसका मन नास्तिक भावों से भर उठा था। जब शौच से लौट कर स्नान-ध्यान कर चुकी तो गाँगी ने आकर कहा—भोजन तैयार है सरकार !

दोनों माँ-बेटी चौके में साथ-साथ ही गईं; किन्तु, जब तक चौके में रहीं उनमें फिर कोई बात न हुई।

फिर भोजन करके कुसुमलता जब अपने बिस्तर पर लेटी तो रात करीब दस की हो रही थी। खुली खिड़कियों से ठण्डी हवा के तेज झोंके आ-आकर दीवाल पर टँगे कलैण्डरों को खड़खड़ा जाते थे, किवाड़ और झरोखों के पल्ले भी ठिठुर कर खिटखिटा रहे थे।

जब चादर ओढ़कर वह सोने लगी तो तबलों की ठनक और सारङ्गी की आवाज ने उसे चौंका दिया ध्यान से वह सुनने लगी।

फिर कुछ देर के बाद एक सुरीला आलाप सुनाई पड़ा। वह स्वर उसे परिचित-सा लगा। उठकर कमरे के बाहर गई तो देखा – सामने की तीसरी छत के छज्जे में विद्युत का तीव्र आलोक बिखर रहा था। कमरे के खुले झरोखों से बिखरते प्रकाश में देखा उसने—लवंगलता अपने रसियों के बीच बैठी तानपूरा सम्भालकर गाने लगी थी—

क्यों सावन बीता जाय······?
घोर घटा घिरि आये नभ में
बोले मोर-पपीहा बन में,
मेरी सेजिया क्यों सूनी रे ?
सजना अजहुँ न आय।
सखी, क्यों सावन बीता जाय ?

कुसुमलता ध्यान मग्न होकर गीत सुन रही थी। जब गीत समाप्त हुआ, प्रशंसकों की 'वाह-वाह' के शोर से कमरा गूँज उठा। कुसुमलता का ध्यान टूटा। वह अपने बिस्तर पर लौट आई। लेटी-लेटी सोचने लगी—अहा, कितना अच्छा गीत था वह ! जब लवंगलता-जैसी एक वेश्या भी इस गीत में विरह-वेदना का ऐसा करुण राग भर सकती है तो फिर इसकी मूल गायिका के विरह का क्या ठिकाना होगा ? किन्तु लवंगलता

वहुत तो दो-चार साल और जीऊँगी; पड़ेगा तुम पर—जैसे चाहो संभालो!"—और खीझकर वह दूसरे कमरे में चली गई। रात्रि का समय आठ के ऊपर हो चुका था। गाँगी चौके में रसोई बना रही थी। कुसुमलता भी उठीं और कपड़े वदलकर शौच के लिये जाने लगी। वरामदे के कल पर जब लोटे में पानी लेने लगी तो उसने सुना—दूसरे मकान में कोई सुहागिन सुमधुर स्वर में कजरी गा रही थी—

झूला लगे कदम की डारी
झूले कृष्ण मुरारी ना।

वह सोचने लगी—आज के रसिक नर-नारियों को अपने मन के भावों को प्रकट करनेके लिये वेचारे राधा-कृष्ण की आड़ भी अच्छी मिल जाती है!

ऐसे ही अनेक विचारों से आज उसका मन नास्तिक भावों से भर उठा था। जब शौच से लौट कर स्नान-ध्यान कर चुकी तो गाँगी ने आकर कहा—भोजन तैयार है सरकार!

दोनों माँ-वेटी चौके में साथ-साथ ही गईं; किन्तु, जब तक चौके में रहीं उनमें फिर कोई बात न हुई।

फिर भोजन करके कुसुमलता जब अपने बिस्तर पर लेटी तो रात करीब दस की हो रही थी। खुली खिड़कियों से ठण्डी हवा के तेज झोंके आ-आकर दीवाल पर टँगे कलैण्डरों को खड़खड़ा जाते थे, किवाड़ और झड़ोखों के पल्ले भी ठिठुर कर खिटखिटा रहे थे।

या ऐसी हो अनेक गायिकायें, जिन्हें मेहरबानों की आँखों के संकेत पढ़कर न मालूम कितने ही हाव-भाव बनाने पड़ते हैं; उन्हें कोई हर्ष-विषाद अनुभूत नहीं होता। उनकी खुशी का हेतु केवल एक ही वस्तु है—और वह है पैसा। जब वेश्या का हृदय हँस रहा भी होता है, वह आँसू बहाने का अभिनय करती है या आँसू के सागर में हृदय के डूबे रहने पर भी उसे ग्राहकों को खुश रखने के लिये अपने अधरों पर मुस्कान लानी पड़ती है। उसके जीवन का समस्त राग-विराग पैसों के हाथ बिककर पराये का हो जाता है। तब उसका अपना मन और जीवन भी अपना नहीं रह जाता। आह, वेश्या की यह मजबूरी उसके जीवन की कैसी करुण कहानी हुआ करती है !

ऐसी ही वेश्याओं के व्यथित हृदय का दर्द पढ़ते-पढ़ते वह सो गई।

सबेरे जब वह उठी और प्रातः के दैनिक कार्य समाप्त कर गंगा-स्नान के लिये जाने लगी तो सारी राह उसका हृदय भरा-भरा ही रहा। कई बार कंठ काँप उठा था, आँखें छलछला आई थीं।

फिर जब स्नान कर अनमनी-सी घर लौटी तो आँगन में पैर रखते ही उसने देखा—मिट्टू मचिया पर बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए गाँगी से बातें कर रहा था। कुसुमलता के हर्ष का ठिकाना न रहा। हर्षोत्फुल्ल होकर उसने मिट्टू के पैर

हुए। फिर एक उत्सुक बालक की भाँति उसने मिट्ठू से कितनी ही बातें पूछीं और मिट्ठू अपनी पुरानी आदत के अनुसार इधर-उधर का जवाब देकर उसे बहलाता गया।

दूसरे दिन कुसुमलता को लेकर मिट्ठू शिवनगर को लौट चला। साथ में गाने-बजाने के साज-सामान भी थे। जब वे स्टेशन पर उतरे तो तीसरे पहर का समय हो रहा था। स्टेशन से शिवनगर करीब डेढ़-दो कोस पड़ता था। गाड़ी के समय पर वहाँ एकाध टुटहा टमटम तथा भाड़ेकी कुछ बैलगाड़ियाँ लगी रहती थीं। मिट्ठू एक गाड़ीवान के पास गया और सवारी के लिये एक बैलगाड़ी ही ठीक कर ली। स्टेशन से बाहर होते ही गाड़ी कीचड़ से भरी उस टूटी-फूटी देहाती सड़क पर बढ़ने लगी। मिट्ठू कुसुमलता को बताये जा रहा था कि इस बार पूनम के दिन मन्दिर में कौन-कौन-से उत्सवों का आयोजन हुआ है तथा कितनी नई संस्थाओं के खोलने का विचार हुआ है।

कुसुमलता मिट्ठू की बातें सुन-सुनकर मन ही मन अति प्रसन्न हो रही थी। वह सोच रही थी—"यदि ये सारे आयोजन सफल हो जायँ तो शिवनगर सचमुच ही पृथ्वी का स्वर्ग बन जाय। आसमान पर बसे स्वर्ग का सौन्दर्य क्या इससे अधिक सुन्दर और सुखद होगा ?

गाड़ी के बैल पैरों से कीचड़ और पानी उछालते हुए मस्ती में झूमते चले जा रहे थे। गाड़ीवान भी नौजवान था; एक

गीत गुनगुनाने लगा—

मैना, चुपके-चुपके बोल—
मेरे साजन कब घर आयेंगे .....

उस दिन आकाश भी बिल्कुल साफ था। धूप खुलकर उगी थी। अतः उस ढलती बेला में भी ऊमस से कुसुमलता के कपड़े पसीने से तर हो रहे थे। उसका गोरा सुकुमार मुंह सिंदूर की भाँति लाल हो गया था। हवा भी बन्द थी। सड़क के दोनों ओर खेतों में धान की रोपाई हो रही थी। किसान अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। एक जगह देखा उसने--मजदूर-स्त्रियों का एक समूह नगाड़े की चोट पर सधे हुए सुमधुर स्वर में झूमर गा-गाकर धान रोप रहा था। कुसुमलता को सावन का वह दृष्य बड़ा ही मन भावन लगा।

कुसुमलता को प्यास लगी हुई थी। चारों तरफ गंदला ही गंदला पानी नजर आता था। उसने गाड़ीवान से पूछा—भाई, मुझे प्यास लगी है, पानी चाहिये;—कहीं है इधर पानी का इन्तजाम ?

गाड़ीवान ने बताया—"थोड़ो दूर पर एक इनारा है हुजूर; वहाँ बाल्टी और डोर भी रखी रहती है; सड़क के किनारे है—वहाँ एक बरगद का पेड़ भी है। बटोही वहाँ बैठकर थोड़ा सुस्ता लेते हैं और इनारे के शीतल जल से अपनी प्यास बुझाकर फिर अपना रास्ता पकड़ते हैं। अहा, बड़ा पुण्य

उस बूढ़ी को धन्यवाद देते हैं ! तीसरे साल उसने आकाश-दीप जलाया था—उसी के साथ-साथ यह इनारा भी खुदवाया था। हजारों भूखों-कंगलों को उस दिन भोजन मिला था सरकार !"

कुसुमलता मौन होकर उस मसोमात के पुनीत और आदर्श जीवन पर मनन करने लगी। वह सोच रही थी—नहीं, संसार से दया और धर्म अभी बिल्कुल नहीं गया है। अभी भी एकाध दयाधर्मी पृथ्वी पर शेष बच रहे हैं। संसार में जिस दिन एक भी दानवीर और धर्मवीर शेष न रह जायगा उसी दिन इस सृष्टि का महालोप हो जायगा।

गाड़ी इनारे के पास पहुँच चुकी थी। मिट्ठू ने गाड़ी को रुकवाते हुए कहा—पानी पीना है तो पी लो बेटी !

कुसुमलता गाड़ी से उतरी और हाथ-पैर तनिक सीधा करती हुई एक खुली साँस लेने लगी। फिर हाथ-मुँह धोकर जब उसने जल पीया तो जल बड़ा ही स्वच्छ और शीतल लगा। यह इनारा खुदवाने वाली उस बूढ़ी मसोमात को उसके भी हृदय ने तब अनेक दुआएँ दीं। इनारे की जगत में पढ़ा उसने—लिखा था—मसोमात शारदा देवी, जौजे फकीर मंडल, साकिन चंडीपुर, संवत् १९९६। कुसुमलता ने मन ही मन उस स्वर्गीया विधवा को नमस्कार किया—"तुमने अपना नारी-जीवन सफल कर लिया देवि ! इतना ही नहीं; पति और पितामह का भी नाम रौशन कर गईं तुम ! धन्य हो देवि, तुम्हें

नमस्कार है !" फिर गाड़ी में जा बैठी। गाड़ी आगे बढ़ चली। रसिक गाड़ीवान गाये ही जा रहा था—

जरी की साड़ी, मोतियन माला,
नाक बेसर कब लायेंगे.........

१५

पिता की वैसी अवस्था देखकर अजीत को बड़ा ही दुःख हुआ। उसकी आँखों में आँसू भर आये। उसने माँ से पूछा—ऐसी दुर्घटना हो गई; और मुझे तुमलोगों ने खबर तक न दी माँ? उसने देखा—कर्नल साहब छड़ी के सहारे बड़ी मुश्किल से जमीन पर पाँव रख सकते थे। वह सोचने लगा—मेरे पिताजी—जो कभी घोड़ों की सवारी किया करते थे; बन्दूक और गोलियों का खेल खेला करते थे, जो कड़ी-कड़ी मूँछों को ऐंठते हुए शेरों की तरह दहाड़ते फिरते थे; हाय, उन्हीं की आज यह दुर्दशा कि पंगु होकर बैठ गये! कौन कह सकता था कि उन्हें ऐसे दिन भी देखने पड़ेंगे? लेकिन आह! मनुष्य को यही तो नहीं मालूम कि उसका जीवन आनेवाले दिनों में

किन-किन अवस्थाओं से गुजरेगा। हाड़-माँस का पुतला मानव व्यर्थ ही अपने शरीर और सौंदर्य का घमंड करता फिरता है।

माँ के भी चेहरे से उसे असंतोष ही हुआ। ऐसा लगता था जैसे वह तपेदिक की एक मरीज हो। मुँह पर काली-काली झुर्रियाँ पड़ गई थीं, पीला चेहरा और हड्डियों को छोड़ती झुलसी हुई चमड़ियाँ जैसे कह रही हों—बस, इसका समय अब पूरा हो गया। वह भय से दहल उठा। बहुत देर तक मौन ही रहा।

माँ को उसके भावों पर कुछ संदेह हुआ तो बोली—बेटा, पढ़ाई एक बड़ी भारी तपस्या है। हमलोगों की सारी आशाएँ केवल तुम्हीं पर टँगी हैं। तुम्हें तो घर-गृहस्थी की चिंता छोड़कर एकाग्रचित्त से विद्या हासिल कर लेनी चाहिये।

किन्तु अजीत खामोश ही बना रहा। माँ को उसकी खामोशी से शिकायत थी। उसके दुर्बल हृदय में शंकाएँ घर करती जा रही थीं। ठण्डी आहों का सहारा लेकर बोली—तुम क्या जानो बेटा कि पुत्र का नजरों से दूर रहना माता-पिता को कितनी पीड़ा पहुँचाता है। लेकिन फिर भी हम छाती पर पत्थर रखकर अपने फूल-से सुकुमार बेटे को दूध छोड़ते ही परदेस में रखते आ रहे हैं। जीवन के सुन्दर सपनों के फूल को फल के रूप में देखने के लिए हम कितने बेचैन रहते हैं—यह तुम आज नहीं, एकदिन जब हमारीही श्रेणी में आ जाओगे—तब समझोगे। हमलोगों ने तो सोचा

कि इस वर्ष तुम्हारी पढ़ाई का यह अन्तिम साल है, अतः घर का भला-बुरा समाचार भेजकर तुम्हारे ऊपर चिंता का बोझ न लादा जाय। लेकिन देखती हूँ कि आज के जमाने में माँ-बाप से भी बढ़कर औरत ही अधिक दरदवाली हुआ करती है।

अजीत माँ का लक्ष्य समझ चुका था। उसे यह प्रकट अनुभव हो रहा था कि माँ हाथ धोकर निर्दोष कानन के पीछे पड़ गई है। उस पर आँच ला-लाकर माँ उसे अपमानित करना चाहती है। वह बोला- -माँ, मुझे दुःख है कि बूढ़े-पुराने अपनी संतानों में अभावों का ढेर ढूँढ़ निकालने में व्यर्थ ही परेशान-से रहते हैं। सच तो यह है कि वे निष्पक्ष विवेचन नहीं करते और न तो उनके अभावों को दूर करने के लिये कोई उपाय ही करते हैं।...

माँ बेटे के द्वारा अपनी बातों का खण्डन होते सह न सकी। बस, उबल ही तो पड़ी—हाँ, क्यों न, श्रीमतीजी के चार ढङ्ग का पत्र पाकर ज्ञान की बातें सीख आये हो न? माँ-बाप अपनी संतानों को कितने दुःख-संकट झेलकर पाल-पोस कर बड़ा करते हैं; लेकिन जैसे हो उन्हें पंख उग जाता है कि हाथ से उड़ जाते हैं। हमने इतने दिनों तक गू काटकर गोबर किया लेकिन उसका कोई नाम नहीं; आँसू के घँट पी-पीकर अंडे सेये—लेकिन कोई दाम नहीं! और जैसे ही देवी जी के दर्शन हुए कि माँ-बाप को भूल कर देवीजी के ही नाम की

माला जपने लगे हैं जैसे उसके अतिरिक्त अधिक दरदवाला और कोई हो ही नहीं। बाप रे! चार दिन की यह छोकड़ी हमें आज पानी पिलाने लगी है!

अजीत को माँ की बातें बड़ी कटु लगीं। उसका मन घृणा से भर उठा। वह माँ का प्रतिवाद करना चाहता था लेकिन डरता था कि परिस्थिति कहीं और भी जटिल न हो जाय। वह सोचने लगा—कानन जैसी बहू पाकर भी माँ यदि खुश न हो सकी तो यह उसका दुर्भाग्य है। कानन क्या है; यह जानने की माँ ने कभी चेष्टा ही न की। किन्तु मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ क्योंकि मैं उसके निकटतम् सम्पर्क में हूँ। मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि कल्याणकारी नारी के मंगलमय रूप की वह पूर्ण प्रतिमा है। माँ का संदेह है कि पत्र में मुझे घरवालों की निंदा-शिकायतें भेजी गई हैं और खासकर इसीलिये माँ उससे इतनी चिढ़ी हुई है। लेकिन यह तो मैं ही जानता हूँ कि लहकती ज्वाला को बुझा देने के लिये वह स्वयं किस भाँति आग पर छा जाती है! मेरे घरवालों से चाहे भले ही उसे कोई शिकायत हो किन्तु परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के लिये हृदय पर पत्थर रख कर भी वह बोल ही उठती है—"भगवान मेरे ही जैसा सबको सुखी बनायें!" वह कहती है—"माँ गंगा हैं, हाँ गंगा ही तो! जिसकी भयंकर बाढ़ में अनेकों घर-द्वार दह जाते हैं किन्तु फिर भी पीड़ित प्राणी मुँह से कभी यह नहीं निकालते कि

गंगा की धारा देश से लुप्त क्यों नहीं हो जाती है। बल्कि अंजुलि में निर्माल्य लेकर श्रद्धा से शीश नवाकर कहते हैं—

"प्रात दर्शन दे हे गंगा माई·····"

और माँ है कि कानन उसे फूटी आँखों भी नहीं सुहाती। उसके आँसुओं को पोछने के लिये माँ के हृदय में कोई प्यार नहीं। अपनी दुर्बलता पर सशंकित होकर निराधार ही ऐसे तर्क कर बैठती है कि बहू से अधिकार के रूप में 'कुछ' पाने के बदले पाये हुए सम्मान को भी खो देने के काबिल बन जाती है। मैं यदि हस्ताक्षेप करूँ तो जग-हँसाई होगी अथवा जमाने की नई हवा को कोसने के लिए एक बढ़िया उदाहरण हो जाऊँगा। लेकिन...... लेकिन......

वह बोला—माँ, दूसरों को अपना बनाने के लिये पहले स्वयं को ही उसका बना देना पड़ता है। कानन भी तो तुम्हारे लिये माया मोती के ही समान है। यद्यपि तुम उन्हें मारती पीटती हो लेकिन क्या वे फिर भी माँ, माँ, कहकर दौड़े हुए तुम्हारी छाती से जाकर लिपट नहीं जाते ?

उनकी बड़ी से बड़ी गल्ती पर भी क्या तुम उन्हें ठुकरा देतीं ? कानन भी तो तुम्हारी बेटी ही है ! उसपर भी यदि तुम वही स्नेह नहीं रखोगी तो उस बेचारी को यह कैसे मालूम होगा कि एक माँ के बदले उसे दूसरी माँ मिल गई है।

अजीत की माँ ने उसकी बातों को संकुचित अर्थ में लिया।

इसे वह अपना प्रत्यक्ष अपमान समझ कर उबल पड़ी—क्यों न, पाल-पोसकर इतना बड़ा कर दिया इसीलिये ? बीबी के जादू ने तो तुम्हें भेड़ा बना दिया है, फिर क्यों न तुम माँ को बुरी कहोगे ? नौ महीने तक पेट में रखा, फिर अण्डे की तरह सेया, गू-गोबर एक किया; और आज जब लाख काशी-करवट के बाद इतना बड़ा किया तो एक छोकड़ी का गुरु मंत्र पाते ही माँ को ज्ञान सिखाने लगे ?

बाप रे ! यह जमाना कौन आया है ! माँ तो पैर की जूती; और औरत सिर की टोपी ! अः ह.... इन कलयुगिया छोकड़ों ने भी अत्त जीती है !—और आँखों में आँसू भरकर वह सिसकने लगी।

अजीत ने माँ से अधिक तर्क करना व्यर्थ समझा क्योंकि बातों ही बातों में बहस गम्भीर होती जा रही थी। आँगन में दो-एक अन्य औरतें भी आ गई थीं। अजीत को माँ के स्वभाव से एक घृणा-सी हो आई। घृणा के उन भावों को हृदय में ही दबाकर वह दरवाजे पर चला गया। वहाँ बहुत देर तक मन मारे बैठा रहा। उसका अशान्त हृदय कोई निदान ढूँढ़ना चाहता था। किन्तु माँ और पत्नी, जो उसके जीवन की दो समानान्तर रेखाएँ थीं—दोनों को एक केन्द्र-बिन्दु पर मिलाने का कोई माध्यम ही न मिल रहा था उसे। अतः दूसरे ही दिन शिवनगर होते हुए वह पटना के लिये रवाना हो गया।

कर्नल साहब को जब माँ-बेटे के विवाद का हाल मालूम हुआ तो उन्हें पत्नी से क्षोभ ही हुआ। उन्हें परिवार का भविष्य मेघ संकुल आकाश की भाँति ही अँधेरा प्रतीत हुआ। एक निश्वास भर कर रह गये।

× × × ×

उन दिनों मंदिर में काफी चहल-पहल रहती थी। नित-प्रति 'संध्या' के समय कुसुमलता योगन बनकर जब तानपूरे पर अँगुलियाँ फेरती तो सारे दर्शक उसके सरस भजनों के अनुरागमय राग को सुनकर विमोहित हो उठते थे। दिन-दिन दर्शकों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। लोग पड़ोसी गाँवों से भी आया करते थे।

कानन भी मंदिर जाया करती थी। जबसे कुसुमलता आई थी और-भजन गा-गाकर 'संध्या' को सुहाना बनाने लगी थी—कानन तबसे नित्य की 'संध्या' में उपस्थित हुआ करती। फिर कुसुमलता बड़ी भावुक भी थी। दोनों आपस में काफी हिल-मिल गई थीं। घंटों तक दोनों की आपस में बातें होती रहती थीं।

अजीत को कानन से ही कुसुमलता का परिचय मिला था। कुसुमलता के विगत जीवन की दुःखद कहानियाँ सुन-सुनकर अजीत का हृदय उसके प्रति श्रद्धा और सहानुभूति से भर उठा था। यों तो पहले दिन ही जब उसने उसे देखा—वह एकअसाधारण युवती जान पड़ी। वैभव और विराग के बीच उसका व्यक्तित्व ऐसा दिखाई पड़ा जैसे कोई महान साधिका यौवन की उत्ताल तरंगों के बीच राग-रंगों में डूबकर अपनी साधना की परीक्षा ले रही हो।

अजीत को उससे बातें करने की इच्छा होती: किन्तु पुनः सोचता—मंदिर की एक यौवन नर्तकी के संग कोई गृहस्थ प्राणी भला क्या बातें करेगा ?

कमलकान्त और त्रिवेणी मन्दिर में होनेवाले समारोह को सफल बनाने में अत्यन्त व्यस्त थे। मंदिर की ओर अजीत का भी कुछ झुकाव देखकर कमलकान्त ने उसके ऊपर भी समारोह का थोड़ा भार सौंपा। उसे शहर के कुछ अफसरों को निमंत्रित करने तथा उन्हें लिवा लाने का भार दिया गया।

इस बार मन्दिर की उस धार्मिक संस्था के विकास का बृहत् आयोजन था। आर्थिक क्रान्ति को सफल बनाकर जन-जीवन में एक सांस्कृतिक विकास लाने की सुन्दर कल्पना थी। अजीत को त्रिवेणी के आदर्श और सिद्धान्त बहुत अच्छे लगे। उसने देखा—आर्थिक क्रान्ति में आंशिक सफलता पाकर त्रिवेणी ने गाँव के गरीबों का जीवन सरस और सुख-मय बना दिया था। गाँवों में एकता थी। मन्दिर की पषाण प्रतिमाओं और वहाँ के पुजारी में जनता की अटल श्रद्धा और विश्वास था। गाँव में कोई भूखों नहीं मरता था। चोरी बिल्कुल ही बन्द हो गई थी। गाँव का हर व्यक्ति चाहे वह मजदूर हो या किसान, साक्षर हो या निरक्षर, ब्राह्मण हो या चमार, भगवान की मूर्ति को सभी परमेश्वर मानते थे तथा उनके हृदय में सर्वदा ईश्वर का एक भय समाया रहता था।

अजीत को किसीने एक ऐसी घटना की कहानी सुनाई जो

अद्भुत थी तथा जनता के जीवन में एक सबल संस्करण लाने में पर्याप्त सफल सिद्ध हो सकी थी ! वह कहानी यों थी—

गाँव का प्रसिद्ध चोर जिसके आतंक से सारे गाँववाले त्रस्त रहा करते थे—एक बार अंधेरी रात में विहारी जी का मुकुट चुराने चला। मंदिर के अहाते में जैसे ही उसने प्रवेश किया कि किसी की आहट पाकर फूल की एक झाड़ी में छिप गया। फिर क्षण भर के बाद ही जोरों से वह चिल्ला भी उठा। त्रिवेणी उसकी चीख सुनकर उसकी तरफ दौड़ा। उन दिनों वह सारी रात कुछ अशान्त-सा रहता था तथा अर्द्ध सुप्त अवस्था में नाना भाँति की चिन्ताओं में बेचैन, करवटें बदल-बदलकर रात काटता था। उसने देखा—गाँव का मशहूर चोर फेरुआ चारों खाने चित्त पड़कर जोरों से हाँफ रहा था। फेरुआ ने बताया कि उसे एक बहुत बड़े साँप ने काट लिया है। मिट्ठू भी झट लालटेन जलाकर दौड़ा आया तो रोशनी के प्रकाश में सबों ने देखा—एक भयंकर सर्प हीना की डालियों से लिपटा फुफकार रहा था। त्रिवेणी सर्प को देखते ही सन्न रह गया। मिट्ठू ने साँप को मारना चाहा लेकिन साँप शीघ्र ही सरक कर सघन कटीली झाड़ियों में घुस गया। लाख उपाय किये गये लेकिन फेरुआ बच न पाया। मरते वक्त उसने कहा था—"मेरे अपराधों का दण्ड भगवान ने यह अपने ही हाथों से दिया है। मुझे अब कोई बचा नहीं सकता। मैं भगवान का मुकुट चुराने आया था।"

फिर फेरुआ ने आँखें बन्द कर लीं। धीरे-धीरे उसकी चेतना क्षीण होती गई। सबेरा हुआ। दर्शकों की भीड़ लग गई। दयालुओं की आँखें बरसने लगी थीं। फिर शनैः शनैः शान्ति की चिर निद्रा में वह सो गया। दर्शकों की आँखें उसे देखती ही रह गईं कि पश्चाताप के आँसुओं से भरी वे दो आँखें दुनिया की आँखें खोलकर बन्द हो गईं।

और तब से आज तक किसी का एक तिनका भी गायब नहीं हुआ।

गाँव के झगड़े मन्दिर के पुजारी तक पहुँच कर ही शान्त हो जाते थे। किसान और मजदूर अपने परिश्रम की कमाई खाते थे। उनकी पिछड़ी हुई अवस्था में दिन-प्रति-दिन सुधार हो रहा था।

अजीत सोचने लगा—यदि भारत के सारे गाँव शिवनगर की ही भाँति हो जायँ तो जन-जीवन केवल सुखी और सम्पन्न ही नहीं; बल्कि नैसर्गिक भी हो जाय। मानव-जीवन तब सभ्यता की चरम चोटि पर चढ़कर "सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" की प्राप्ति कर ले तथा प्राकृतिक बनकर वसुन्धरा के सुन्दर सुखों का उपभोग करे।

कुसुमलता से बातें करने पर उसे ज्ञात हुआ कि कुछ दिन पहले वह बनारस की एक मशहूर बाई थी। तीन-चार वर्ष के अन्दर ही अपने रूप और यौवन का विक्रय कर उसने हजारों रुपये जमा कर लिये। छत्तीस हजार रुपये केवल

इम्पीरियल बैंक में जमा थे उसके। इसके अतिरिक्त भी हजारों रुपये पास में थे तथा आभूषणों से पिटारी भरी हुई थी। बनारस में एक बड़ी कोठी थी उसकी, जिसके नीचे के कमरे किराये पर लगे थे और दो-ढाई सौ रुपये महावार आ जाते थे।

और आज उसी कुसुमलता को, जो पैसों के हाथ अपने हृदय के प्यार को बेचती आई थी, अपने जीवन से घोर घृणा हो आई थी। उसने अजीत से बताया—लोग सोचते हैं कि वेश्याएँ रुपये-पैसों के ढेर के बीच, वाह-वाह के पुल और कामी रसिकों की खुशामद से अपने रूप और यौवन की सार्थकता पर फूली नहीं समातीं; हाँ, कुछ अंश में यह सत्य भी है—किन्तु दुकान उठा लेने के बाद आँखों में आँसू भरकर रोते हुए हृदय को तकिये से सहलाकर सोनेवाली सुन्दरियों की संख्या भी कम नहीं। रूप के इस जालिम बाजार में जितनी भी नाजुक कलियाँ आती हैं, वे या तो शाखा-च्युत होती हैं या पल्लवों के बीच से निर्ममता पूर्वक तोड़कर लाई गई होती हैं। कुछ ऐसी भी होती हैं जो गजरे में हो बिंधकर यौवन का विकास ढूँढ़ना चाहती हैं। कामी भँवरे सोचते हैं जिस जीवन में जवानी है—आखिर उसकी भी तो कोई सार्थकता होगी ? उसके रूप और शृंगार की उपयोगिता तो होगी कुछ ? तब फिर यौवन की चंचल छाया में बैठकर सलोने अधरों की लावण्यता के शीतल घूँट पीकर जलते होठों की

प्यास क्यों न बुझा लें? दो क्षण के लिये संसार के बंधनों को तोड़कर मस्ती में झूम क्यों न लें? किन्तु आह! अस्फुट पुष्प-मल्लिकाओं से अपने जूड़े का श्रृंगार करती हुई किसी रूपसी से कोई पूछता कि सूई की तीक्ष्ण नोंक से बिंधी कलियों की कराहें क्या वह सुन पाती है?

मुझे अपने जीवन का कटु अनुभव है। अपने अनुभवों के आधार पर यदि कुछ मनन करती हूं तो मुझे ज्ञान होता है कि वेश्या-वृत्ति नारी की सबसे पतित अवस्था है। इस जीवन से बढ़कर नारकीय जीवन शायद ही कोई दूसरा होगा। पश्चा-ताप की ज्वाला में जलनेवाली ऐसी कलियों को यदि समाज की गंदी गलियों से निकाल कर उनके सौरभ और सौंदर्य का उचित मूल्यांकन हो तो अवश्य ही उन दलित सुकुमार कलियों का समुचित विकास हो सके।

सच कहती हूँ अजीत बाबू, मैं ऐसे ही सुधारों की कल्पना में दिन-रात खोई रहती हूँ। मैं अपनी सारी सम्पत्ति भी इस महायज्ञ में अर्पित कर सकती हूं! काश! मेरे मनोरथ कभी पूर्ण भी हो पाते!

अजीत ने कुसुमलता के जीवन से एक अद्‌भुत वस्तु पाई कि प्राणी को जब भौतिक प्रताड़ना मिलती है—उसकी स्वर्गीय चेतना तब जाग उठती है।

उसने कहा—हाँ, यदि इस विषय पर गौर से सोचा जाय तो मालूम होगा कि नगर और बाजार की ये सुन्दरी नर्त-

के सारे व्यभिचारों का उत्तरदायित्व नारी के ऊपर ही सौंपने का भाव अनुभूत हुआ उनमें। प्रतिवाद करती हुई बोली वह-- लेकिन आप यह भूल रहे हैं कि नारी को कटार, तीर और तलवार का रूप धारण करने के लिये पुरुष ही बाध्य करता है। मैं पूछती हूँ, यदि वेश्यालयों में वेश्यागामी न पहुँचे तो क्या वेश्याओं की संख्या मिट न जाय? और फिर अबला को वेश्या बनने के लिए मजबूर भी तो पुरुष ही करते हैं। चाटखोरों को तो बाजार की चाट चाहिये—उन्हें रसोईघर का प्रशस्त भोजन थोड़े ही पसन्द आता है! न मालूम पुरुषों के हृदय में नारी के नग्न सौंदर्य की भूख और कितनी बढ़ेगी? यौवन और पैसे के नशे में झूमनेवाले ये मनचले जीव भले ही भविष्य की परवाह न करें किन्तु उनसे उत्पन्न संतान आगे चलकर जब एक विकृत पारिवारिक जीवन बिताती हैं तब उन्हें अपने माता-पिता की अयोग्यता का प्रमाण मिलता है और वे तब उनके प्रति घृणा से मुँह फेर लेती हैं—उन्हें पानी पी-पीकर कोसती हैं।

मैं भी तो आज यही सोचती हूँ कि मुझे यदि एक वेश्या माँ ने नहीं खरीदा होता तथा मेरी उस वेश्या माँ कोकाफी पुरुषों के द्वारा पर्याप्त दाम न मिला होता तो आज इस भाँति मैं उस वेश्या-जीवन पर पश्चाताप ही क्यों करती? यौवन प्राप्त करते ही बधू बनकर डोली में बैठ मैं भी किसी के घर गई होती! लेकिन नहीं, आज मैं वेश्या हूँ, वहीं वेश्या जो

नित्य-प्रति नव-वधू का नवीन-नवीन रूप धारण किया करती है, माँग में सिंदूर भरती है, हाथों में मेंहदी रचाती है और आँखों में काजर राँचकर माँग में सुहाग-शीथ पहने ठुड्डी पर हाथ रखकर सुहाग रात की ही भाँति किसी के आगमन की प्रतीक्षा किया करती है। उसे चाहनेवाले अनेकों होते हैं किन्तु जब उसकी आँखें उनमें से किसी 'अपने' को ढूँढ़ना चाहती हैं तो उसकी बेचैन निगाहें निराश लौट कर खामोश हो जाती हैं। तब अपनी असफलता पर वे केवल आँसू ही बहा सकती हैं।—कुसुमलता का हृदय भर आया था। आँचर के छोर से नैन के गीले कोरों को पोंछने लगी।

अजीत को उससे बड़ी सहानुभूति हुई। उसके आँसू देखकर उसकी भी आँखें समवेदित हो उठी थीं। किन्तु फिर भी हृदय का भाव छिपाकर मुस्कुराते हुए बोला—अरे, आपकी आँखों में आँसू! मोम के हृदय को जबतक आप पत्थर नहीं बना लेंगी, चट्टानों से टकरा कर जन-जीवन में एक नई क्रान्ति कैसे लायेंगी आप? मैं तो आपको बहुत ही दृढ़ और समझदार समझता हूँ। जानती हैं, एक नये समाज के निर्माण-पथ में कितने रोड़े आते हैं! आपको तो चण्डी-सी कठोर बनना पड़ेगा। छिः, इन नयनों में आँसू नहीं शोभते; इनमें तो क्रान्ति की फूटती हुई चिनगारियाँ होनी चाहिये····

तभी आकर कमलकान्त ने अजीत से कहा—तब, सबेरे आप शहर जा रहे हैं न? देखिये, समय अब बहुत कम रह

गया है और अभी बहुत से काम बाक़ी पड़े हैं, लेकिन आप इतने आलसी हैं कि इधर-उधर की बातों में ही समय नष्ट कर रहे हैं।

फिर दोनों बातें करते हुए सड़क की ओर निकल गये।

कानन भी मंदिर में आ गई थी। सूर्यास्त हो रहा था। आज वह मन में सोचकर आई थी कि आज की 'संध्या' में वह कुसुमलता से वह भजन गवायेगी—"योगी, मत जा, मत जा, मत जा—पाँव पड़ूँ मैं तोरे……"। एक बार उसने कर्नल साहब के मुँह से यह गीत सुना था तो बड़ा प्रिय लगा था उसे।

किन्तु यहाँ उसने देखा—उदास-सी बैठी-बैठी कुसुमलता आकाश में लौटते हुए पक्षियों का संगीत सुन रही थी।

वह उसके समीप जाकर बैठ गई और उसे छेड़ती हुई बोली—आज योंही बैठी रहोगी या संध्या का भजन-पूजन भी होगा?

कुसुमलता चैतन्य होकर बोली—अरे हाँ, तुम आ गईं बहन? चलो, चलें—पूजन का समय हो गया।

कानन ने आग्रहपूर्वक कहा—आज तुम्हें वह भजन गाना पड़ेगा बहन—"मत जा योगी, पाँव पड़ूँ मैं तोरे"।

कुसुमलता ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—तुम्हें मेरे भजन अच्छे लगते हैं बहन?

कानन ने मुस्कराकर उत्तर दिया—गिरिधर की रंगराती मीरा के ही समान।

कमलकान्त ने कहा—"मैं समझता हूँ, आजकल कोई नया काम करने में, अथवा कोई संस्था या समाज खोलने में सबसे पहले रुपये की आवश्यकता पड़ती है। यह आर्थिक युग है, अतः जबतक कि अर्थ की प्राप्ति न हो जाय मनुष्य को जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं मिल सकती है। अतः मेरा तो विचार है कि शहर के कुछ उच्च सरकारी पदाधिकारियों, प्रतिष्ठित रईसों और समाज सेवी-शिक्षित जनों को आमंत्रित किया जाय। उनकी उपस्थिति से हमारी संस्थाओं को केवल ख्याति ही प्राप्त नहीं होगी; बल्कि आर्थिक सहयोग भी मिलेगा।

"यह विज्ञापन का युग है; जिसका जैसा विज्ञापन है वैसा ही उसका नाम और दाम है। मेरे विचारों से त्रिवेणी जी थोड़ा भड़कते अवश्य हैं; किन्तु, मुझे विश्वास है कि मैं उनको संभाल लूँगा।

"जरा आप ही सोचकर . देखिये अजीत बाबू, इस बुद्धि और विज्ञान के युग में आर्थिक और राजनीतिक हलचलों के लिये साधुवाद और पलायनवाद का क्या महत्व ? वह समय अब लद चुका जब धर्म और कर्म के लिये लोग सर्वस्व दान

कर बैठते थे, ब्रह्म-दर्शन के लिये वन-गिरि और कन्दराओं में आजीवन भटकते फिरते थे। आज तो धर्म-कर्म विमुख प्राणियों को लोभ और आकर्षण की डोर में बाँधकर ही सही रास्ते पर लाया जा सकता है। आज की दुनिया नाम और बड़प्पन की भूखी है। कोई भूखा-नंगा व्यक्ति किसी सेठ से एक रोटी माँगता है तो वह बुरी तरह दुत्कार दिया जाता है; किन्तु उस सेठ को यदि यह प्रलोभन दिया जाय कि अमुक धर्मशाले में आपका नाम खुदा रहेगा अथवा फलाँ सड़क आपके नाम रहेगी या फलाँ स्कूल-कालेज आपके स्मारक स्वरूप रहेंगे तो आप जितना धन चाहें; सेठ जी से ले सकते हैं।

"अतः सच्चे समाज-सेवियों को जनता की मनःस्थितियों का खूब अध्ययन करना पड़ता है। यह भौतिकवाद और यथार्थवाद का युग है, इसमें निरी भावुकता और कोरी कल्पना का कोई महत्व नहीं। हवा का रुख देखकर पीठ मोड़ना पड़ता है।

सामूहिक चन्दा वसूल करने के लिये समाज के योग्य व्यक्तियों का सहयोग अपेक्षित है; और यह सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है जब उनके ध्यान को हम किसी आकर्षण विशेष से अप्रत्यक्ष रूप में अपने केन्द्र-विन्दु पर ला सकें। ऐसे अवसरों के लिये जलसे, नाच-गान, खेल-तमाशे इत्यादि आमोद-प्रमोद के आयोजनों की आवश्यकता है।"

"हाँ, कहना तो आपका ठीक है, किन्तु······"और अजीत कुछ कहते-कहते रुक गया।

कमलकान्त ने उत्सुकतापूर्वक पूछा--"किन्तु ········क्या? हाँ, हाँ, बोलिये!"

अजीत बोला—"मेरा तो विचार है कि किसी सार्वजनिक कार्य में व्यक्ति विशेष का कोई अपना स्वार्थ न हो अन्यथा परोपकार का वह विशाल किला जो जनता के अद्भुत सहयोग से तैयार होता है, जनता की घृणा और उसके अविश्वास से निकट भविष्य में ही ढह कर ढूँह बन जाता है और मानव की अज्ञानता पर जोर-जोर से अट्टहास करता है।

सच्चे समाज-सेवियों के लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि वे जन साधारण से वाह-वाही लूटें ही, अथवा नाम और माला के लिये झोली फैलाकर व्यक्ति-व्यक्ति के पास जायँ; समाज के गन्यमान्य व्यक्तियों की सम्मतियाँ बटोरने के लिये चाटुकारिता भाव से उनके मुँह ताकें। मेरा तो सिद्धान्त है कि व्यक्ति केवल कर्त्तव्य करता है; यश और ख्याति का क्षेत्र उसका अपना नहीं। व्यक्ति समय के आगे नहीं जा सकता; समय को उसकी आवश्यकता होगी तो वह स्वयं उसे साथ ले लेगा। जो सच्चे साधक हैं उनके नाम को अमर करनेवाली एक मात्र उनकी सची साधना और समाज की क्रियात्मक सेवा की सची निष्ठा थीं। बुद्ध और ईसा—इन महान आत्माओं के उद्देश्य और आदर्शों का प्रचार उनके

जीवन-काल के बाद हुआ।

"इस मन्दिर के पुजारी त्रिवेणी जी ने इस अल्प उम्र में ही इतनी लोक-प्रियता कैसे पा ली? जन-जन का ऐसा श्रद्धा-विश्वास कैसे पा लिया? आजतक किसी मदद और याचना के लिये ये तो किसी गाँव-समाज या सभा-सोसाइटी में नहीं गये हैं! कुसुमलता एक वेश्या; जिसके गीत पर कभी रुपये बरसते थे—आज उसके भजनों को सुनकर भक्तों की आँखों में आँसू कैसे भर आते हैं?

"सरकार ने कृषि-सुधार की कितनी ही योजनाएं बनाईं: लोन देती है—कुएँ खुदवाती है: किन्तु किसी भी गाँव में आजतक सुधार नहीं हो पाया है। महाजनों के कितने ही रुपये डूब जाते हैं, बैंक फेल हो जाता है—किन्तु इस मन्दिर का एक पैसा भी आजतक नहीं डूबा बल्कि कोष की रकम में दिन पर दिन वृद्धि ही होती जा रही है।

"इस गाँव के किसान अच्छी-अच्छी फसलें उपजाते हैं और एक सभ्य जिन्दगी बिताना सीख गये हैं। किन्तु आप बता सकते हैं कि इस युवक पुजारी ने कभी कोई मीटिंग भी बुलाई है!

"सामाजिक भ्रष्टाचारों को दूर करने के लिये, जन-जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिये, जनसाधारण के जीवन का स्तर ऊँचा उठाने के लिये आर्थिक और नैतिक क्रान्ति की आवश्यकता होती है और यह क्रान्ति तभी सफल

हो सकती है जब क्रान्तिकारी पहले अपने ही घर में उन क्रान्तिकारी विचारों को कार्यान्वित कर सफल बना दे। संसार उसकी सफलता की नक़ल और उसके पथों का अनुसरण तब अपने आप ही करने लगेगा।

"आज हमारे देश को ढोल पीटनेवाले वीरों की आवश्यकता नहीं, त्रिवेणी जी जैसे कर्मवीरों की आवश्यकता है। शिक्षा का वह प्रकाश चाहिये जिससे मानवता के अँधेरे पथ को आलोक मिल सके। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये आज संस्कार और सुशिक्षा की आवश्यकता है। चन्दा के लिये गाँव, शहर और बाजार की गलियों-गलियों में भटकना, दान प्राप्त करने के लिये पैसेवालों के सामने हाथ फैलाना —मैं इसे केवल एक भिखमंगी वृत्ति समझता हूँ।

"मैं मानता हूँ कि विधवा-आश्रम खोलकर आप पीड़ित विधवाओं का उद्धार करना चाहते हैं, किन्तु आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि जब तक ये विधवाएँ बचपन से ही सुन्दर वातावरण और सुन्दर विचारों के बीच नहीं पलेंगी—उनके वैधव्य में वह नैसर्गिक तेज आ ही नहीं सकता। और जिस विधवा का मन अशान्त है,—जो अपनी दशा से संतुष्ट नहीं; बल्कि संस्कारहीन और चँचल है—उसे चाहे आप आश्रम में लायें अथवा मन्दिर में रखें, व्यभिचार फैलाने से वह बाज नहीं आयेगी।"

कमलकान्त अजीत की बातें बड़े गौर से सुन रहा था।

उस आश्चर्य हुआ कि बातों ही बातों में अजीत ने एक अच्छा खासा व्याख्यान कैसे दे डाला। उसे उसकी बातें भी बड़ी उचित जँची किन्तु उसने झूलन के अवसर पर एक जल्सा मनाने का जो आयोजन किया था उसे अपूर्ण छोड़ देने में थोड़ा मोह हुआ उसे। मन में सोचने लगा—"तो क्या, मेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ जायेंगे! देखता हूँ—उधर त्रिवेणी भी तटस्थ बने बैठा है और मेरे इन सारे प्रयासों को केवल ढोंग और ढकोसला कहकर हँस देता है। अजीत बाबू से कुछ सहायता प्राप्त होने की आशा थी तो ये भी वैसा ही निकले।"

उसे पीछे लौटने में बड़ा मोह हुआ। अतः अजीत को मनाते हुए बोला—अच्छा, इस बार का उत्सव तो होने दीजिये दृष्टिकोण चाहे आप जो भी दें। और इतना ही नहीं, आपको भी इसमें काफी सहयोग देना होगा।

अजीत बोला—सो तो ठीक है, ऐसे कार्यों के लिये मैं बराबर तैयार रहता हूँ; लेकिन पूर्णिमा तो अब केवल तीन ही दिन बाकी रह गई है—हफ्ता भर हो गया और मैं इधर-उधर भटक रहा हूँ; मुझे कालेज जाना जरूरी है,—अफसोस है कि उक्त अवसर पर मैं यहाँ उपस्थित न रह सकूँगा। किन्तु हाँ, निमंत्रण की बात कहते हैं—सो कुछ अफसरों को मैं अवश्य भेज दूँगा।

"असंभव, बिल्कुल असंभव! यदि आप नहीं आयेंगे

तो फिर कोई अतिथि भी नहीं आयेंगे। कम से कम इतना तो आप करें ही कि उस दिन आप आ जायँ ! पटना के मेहमानों का आना तो मुझे असंभव-सा लगता है, लेकिन हाँ, भागलपुर से अधिक से अधिक लोग आ सकते हैं। जाते वक्त आप उन्हें निमंत्रण देते जाइये और आने के दिन सब को बटोर-बटोर कर साथ ही लेते आवें।"

अजीत कुछ सोचने लगा। फिर बोला—लेकिन भागलपुर के अफसरों से मेरा अधिक परिचय भी तो नहीं .... खैर, तब भी कोशिश करके देखूँगा।

त्रिवेणी भी आ पहुँचा था। दोनों को बातों में मशगूल देखकर बोला—आज रात भर दोनों की स्कीमें ही बनती रहेंगी क्या ? फिर उसने देखा—मंदिर की आरती समाप्त हो चुकी थी और अब कुसुमलता तानपूरा संभाल कर भजन गाने बैठी थी। गाँव की अनेक स्त्रियाँ भी जुट गई थीं। कानन कुसुमलता के पास बैठी हुई थी। आकाश में चाँद पूरा निकल आया था किन्तु चाँदनी के मुँह पर श्याम घटाओं का घूँघट था। त्रिवेणी, अजीत और कमलकान्त को मंदिर की तरफ आते देख कुसुमलता कानन से बोली—देखती हो बहन, ये तीनों ऐसे लगते हैं जैसे ये एक ही गुच्छे के तीन फूल हों।

कानन मुस्करा उठी।

(१७)

दूसरे दिन शाम की गाड़ी से वीरेन्द्र राँची चला गया। कामिनी उसके साथ न जा सकी। मैजिस्ट्रेट साहब को वीरेन्द्र की उद्दण्डता से बहुत चोट पहुँची थी, लेकिन बेचारे बोलें तो क्या? यह गाल भी अपना था और वह गाल भी अपना; चपत मारें तो किस पर?

कामिनी का हृदय पति के तिरस्कार और अपमानों से विदग्ध हो उठा था। सच पूछा जाय तो उसे पति के प्रति घृणा भी हो आई थी।

नारी का सबसे अनमोल धन उसका सतीत्व है और जब भी किसी सती-साध्वी के सतीत्व पर आघात पहुँचता है; वह चोट उसके लिये असह्य हो उठती है।

कामिनी अपने मन में सोच रही थी—"मैंने आज तक कौन-सा ऐसा काम किया है कि मेरे पति ही मुझ पर इस भाँति संदेह कर बैठे। मैं जो प्यार उन्हें विवाह की प्रथम रात्रि में दे पाई थी, वही प्यार मेरे हृदय में आज भी संचित है। आह! मेरे प्यार को उन्होंने पहचाना नहीं! हारे हुए खेलाड़ी की भाँति मेरे हास-परिहासों से इर्ष्या करने लगे और केवल मुझे नीचा दिखाने के लिये ही उन्होंने एक ऐसी चोट दी

जिसका दर्द जिन्दगी में कभी भुलाया नहीं जा सकता।

"निराधार ही उन्होंने मेरे ऊपर संदेह किया और मेरे चरित्र को लांछित कर मुझे कुलटा बना दिया। अपने उट-पटांग तर्कों का उनके पास कोई ठोस आधार नहीं, अपने संदेह और शिकायतों को प्रकट रूप में कह देने का साहस भी नहीं; बस, केवल एक तुरही फूँकते हैं कि अजीत को उन्होंने चौराहे से गुजरते देखा था। है ऐसे तर्कों का कोई सिर पैर? उस चौराहे से गुजरते हुए तो न मालूम अजीत की तरह बाजार के और भी कितने ही लोग मिले होंगे—तो क्या उन सबों की मैं चहेती हूँ?

"फिर मुझे अजीत से किसी विशेष रूप में हँसते-बोलते भी तो उन्होंने नहीं देखा? मेरे और उसके बीच का व्यवहार कोई गुप्त भी तो नहीं; वह तो जिस भाँति अजीत के सामने प्रकट था उसी भाँति इनके और माँ-बाबूजी के सामने भी स्पष्ट था। माँ-बाबूजी को तो आजतक मुझसे कोई शिकायत नहीं हुई; वल्कि हम दोनों की बैठक में घड़ी दो घड़ी के लिये शामिल होकर आनन्द उठाया करते थे। तो क्या उनके कहने का मतलब कि मेरे माँ-बाबूजी मेरा बाजार खोले बैठे हैं! ना, ना, इनका हृदय पहले से ही कलुषित रहा, अन्यथा अजीत को देखते ही देखते आस्तीन का साँप कैसे समझ बैठे! मैं तो समझती थी कि अजीत की भाँति ये भी काफी पढ़े-लिखे और ज्ञानवान होंगे तथा इनकी पत्नी बनकर

अजीत का अभाव मुझे खलेगा नहीं; लेकिन सत्य इतना कठोर निकला कि मेरे सारे अरमान केवल आह बनकर रह गये।"

कामिनी को पति के संग जाने में कोई विरोध नहीं था वीरेन्द्र भी उसे साथ ले जाना चाहता था किन्तु कामिनी की वैसी दशा देखकर मैजिस्ट्रेट साहब ही बोले—इस बार आप अकेले ही जाइये, अभी तो वहाँ आप नया-नया जा रहे हैं—क्वार्टर वगैरह का इन्तजाम ठीक हो जाते ही आप लिखियेगा- इसे भेज दूँगा; या बीच में आप ही आकर लेते जाइयेगा।

वीरेन्द्र ने मैजिस्ट्रेट साहब की बातों को अपना प्रत्यक्ष अपमान समझा। वह क्रोध से जल उठा लेकिन उनके सामने मुँह खोलने की उसकी हिम्मत न पड़ी। वह सोचने लगा—"कामिनी का क्या दोष? इसके माँ-बाप ने ही तो इसे सिर चढ़ाकर इतना बिगाड़ रखा है! बेटी ने कालेज का गेट क्या देख लिया कि नवाबिन हो गई। उसके सामने मुझे ये लोग जैसे कुछ समझते ही नहीं हों! इतना ही था तो अपनी लाड़ली को मेरे साथ व्याहे ही क्यों? व्याहते तो उसके साथ जिसे हमारे व्याह के बाद भी अपना दामाद समझ रहे हैं। कम्बख्त अजीत......!" वीरेन्द्र दाँत पीसकर रह गया। अपने दुर्बल हृदय में संदेह और दुर्विचारों को प्रश्रय देकर उसने अपने और कामिनी के बीच घृणा और द्वेष की एक गहरी खाई खोद ली। वह राँची तो चला गया किन्तु उसका हृदय क्रोध की ज्वाला से विदग्ध हो रहा था।

× × × ×

राँची पहुँच कर ड्यूटी ज्वाईन किये वीरेन्द्र को कई हफ्ते हो गये थे। कामिनी को यह पूर्ण विश्वास था कि राँची पहुँचकर वीरेन्द्र उसे अवश्य पत्र देगा लेकिन उसका अनुमान निर्मूल निकला।

अन्त में निराश होकर पहले कामिनी को ही पत्र लिखना पड़ा लेकिन उसका भी कोई उत्तर न आया। वीरेन्द्र की ऐसी चुप्पी से उसे बड़ी चिंता हुई। कभी सोचती—क्या मेरे पत्र उन्हें मिलते ही नहीं या पत्र का उत्तर देना कोई आवश्यक नहीं समझते अथवा बिना पढ़े ही फाड़कर फेंक देते हैं? फिर सोचती—यदि मेरे पत्र गलत पते से जाते हैं तो उन्हें तो एकाध पत्र भेजना चाहिये था? ना, कुछ बात अवश्य है!

और मन के ऐसे ही प्रश्नों का उचित उत्तर न पाकर सोचने लगी—"तो क्या सचमुच ही मुझसे उन्हें इतनी घृणा हो गई है कि मैं उनका एक अदना-सा पत्र पाने की भी अधिकारिणी न रही? बाप रे! नारी पर पुरुषों का इतना मनमाना अत्याचार! पुरुष इतने निष्ठुर होते हैं कि नारी को पैर की जूती या राह की दूब समझकर रौंदते रहें? जैसे उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व ही न हो,—कोई अस्तित्व नहीं हो—जैसे उसे कोई स्वतंत्र और स्वाभिमान ही न हो! इसीलिये तो पुरुषों की नजरों में नारी चरित्र भ्रष्टा होती है, उसका हँसना-बोलना भी अभिशाप है। किसी अन्य पुरुष से कुछ बातें

करने का अर्थ है—पाप ! जैसे पति की आँखों में धूल झोंककर वह पर पुरुष से प्रेम करने लगी हो। उसकी इज्जत, उसका स्वाभिमान जैसे इतना सस्ता हो कि पैसे-पैसे पर वह बिकती फिरे।

और पुरुष ?—

चाहे जितना भी पाप करें, जितना भी अन्याय करें—स्त्री को पूछने का कोई अधिकार नहीं। समाज के सारे पाप तो स्त्रियाँ ही करती हैं न ? कहीं पुरुष भी पाप करता है भला ! किस पत्नी की छाती इतनी चौड़ी कि वह अपने पति से उसके पापों की दलीलें माँगे !

"अजीत से मेरा मेल-जोल है; बस इसका अर्थ उन्होंने यह समझ लिया कि मैं अजीत की चहेती हूँ। उसे बाजार में देखकर ही समझ बैठे कि मैं उसी के साथ बाजार कर रही थी—है ऐसे निरर्थक तर्कों का कोई सिर-पैर ? मैं तो समझती थी कि पढ़े लिखे हैं, हम दोनों की खूब निभेगी,—किन्तु अब मालूम हुआ कि डिग्री पाने वाले ऐसे व्यक्ति केवल कोरे डिप्लोमेट ही होते हैं। अजीत से मेरा अधिक मेल-जोल इन्हें भाया नहीं तो कम से कम मुझे आगाह तो कर दिये होते ?—उसे भुलाकर मुझे संभलने का तनिक भी तो मौका दिया होता ?

"ना, यह मूक नारी का महान अपमान है। मैं अबला हूँ केवल इसीलिये मेरी बेवशी का नाजायज फायदा उठा रहे

हैं। लेकिन मेरे पास तो स्वाभिमान है, आत्मबल है! क्या कमाकर मैं अपना भी पेट नहीं भर सकती हूँ? अगर किसी कन्या पाठशाला की अध्यापिका भी हो जाऊँगी तो मजे में अपना पेट भर सकती हूँ। इनके साथ मेरा जीवन कितना सुखी रह सकता है—यह तो मुझे मालूम हीं हो गया। फिर मैं ही व्यर्थ में किसी के पैरों की जूतियाँ क्यों बनती फिरूँ? मुझे क्या—न आगे नाथ; न पीछे पगहा। मैं वह कच्चा बाँस नहीं जो हवा में झुक जाय अथवा जो जैसे चाहे—झुका ले। जब मेरा हृदय निष्पाप है, मैं निरपराध हूँ तो फिर क्यों किसी के पैर पड़ने जाऊँ? अधिक खुशामद से और शह पा जायेंगे,जितना ही झुकूँगी उतना ही और झुकाते जायेंगे।

और उसके आत्मसम्मान ने उसे डाँटा—"खबरदार, जो गरजू बनकर आगे बढ़ो! इतना ही न होगा कि सिन्दूरवाली विधवाओं में एक संख्या और बढ़ जायगी।"

ऐसे ही तर्कों में कामिनी मौन रह गई। उसकी लापरवाही पर उसके माता-पिता चिंतित हो उठे। किन्तु उसके चेहरे पर दिन-दिन दार्शनिकों जैसी उदासी छाने लगी।

करीब डेढ़-दो महीने के बाद मैजिस्ट्रेट साहब को वीरेन्द्र का एक पत्र मिला। उसमें लिखा था—"मैं अपनी दूसरी शादी कर रहा हूँ; चाहें तो आप भी अपनी बेटी का दूसरा व्याह कर सकते हैं!"

मैजिस्ट्रेट साहब अपने ही दामाद के हाथों का वैसा

निर्लज्ज पत्र पाकर क्रोध से आगबबूला हो उठे। लेकिन बेचारे करें तो क्या? सिर थामकर बैठ रहे।

१८

दूसरे दिन अजीत के पटना जाने का विचार था। सबेरे जब वह जाने की तैयारी करने लगा तो उसके घर से एक आदमी दुःखद संवाद लेकर आया। उसने बताया कि आपके बाबूजी मृत्यु-शय्या पर पड़े आपके दर्शन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अतः अजीत शीघ्र ही उस आदमी के साथ चल पड़ा। एक भावी विपत्ति की आशंका से वह दहल उठा। उसका मुँह सूख रहा था।

करीब ढाई-तीन घंटे के बाद वह घर पहुँचा तो देखा—माँ रो रही थी, बच्चे चिल्ला रहे थे। आँगन में पैर रखते ही उसका कलेजा जोरों से धड़क उठा। बेटे को देखकर माँ और भी जोर से रो पड़ी। अजीत की आँखों से भी आँसू बह चले।

झट से वह पिता के पास गया तो देखा—पुरोहित जी 'वैतरणी-दान' करा रहे थे। सिरहाने में खड़े लोग एक-एक कर चम्मच से कर्नल साहब के मुँह में गंगाजल डाल रहे

थे। उनकी खुली हुई बड़ी-बड़ी आँखें असीम निराशा में डूबीं ऊपर की ओर ताक रही थीं। उनकी वे अन्तिम हिचकियाँ थीं। गला घर्राने लगा था। अजीत उनके सिर-हाने बैठ कर एक पागल की भाँति अवाक होकर उन्हें निहा-रने लगा। उसकी आँखें बरस रही थीं कि एक वृद्धा, जो उसके पास ही खड़ी थी, बोल उठी—"अरे चाण्डाल, देख क्या रहे हो ?—बाप के मुँह में एक बूँद गंगाजल तो डाल दो !"

पुरोहित जी जल्दी-जल्दी 'वैतरणी' समाप्त करा रहे थे। फिर उस वृद्धा ने कर्नल साहब की मुरझाई हुई ठुड्डी को तनिक हिलाकर कहा—"जरा नजर तो उठाकर देखो बेटा—देखो, तुम्हारा अजीत आ गया है !"

अजीत का नाम सुनकर कर्नल साहब तनिक हिले। चेहरे पर एक कम्पन छा गया। अजीत को देखने के लिये वे व्याकुल नजरें एक बार थोड़ी-सी उठीं किन्तु महा नैराश्य में डूबी हुईं वे नजरें तनिक मुस्कराकर बेटे की नजरों में ही विलीन हो गईं। जोरों से एक निश्वास निकला जैसे वर्षों का पड़ा कैदी जेल से बाहर निकल कर आजादी की एक खुली साँस ले सका हो ! पक्षी पिंजड़े से उड़ गया। सारे उपस्थित लोग फफक पड़े। मुँह-मुँह पर था—हरे राम ·· हरे राम ·।

× × × ×

कर्नल साहब का यह आकस्मिक देहान्त सारे गाँव के

लिये एक गर्म चर्चा का विषय था। हृदय की गति अवरुद्ध हो जाने से आठ घन्टे के अन्दर ही उनकी मृत्यु हो गई थी। लोग उनकी मृत्यु के बारे में तरह-तरह के तर्क कर रहे थे। पिछले दिनों पति-पत्नी में कानन और अजीत को लेकर आपस में कलह हो गया था। जवान बेटा-पतोहू के पक्ष में उन्होंने अजीत की माँ को बहुत डाँटा था, जिसके लिये दोनों पति-पत्नी में मनमुटाव हो गया था। लोगों की समझ में संभवतः वे ही चिन्ताएँ उनके हृदय की गति अवरुद्ध हो जाने के कारण थीं।

कर्नल साहब के इस आकस्मिक मृत्यु का दुःखद संवाद जब कानन को मिला तो उसे गहरी चोट पहुँची। उनके सरल स्वभाव और मधुर स्नेह तथा बालकों की भाँति ही उनकी कौतुक-प्रियता का स्मरण कर खूब रोई। वह अनुभव करने लगी जैसे उसके सुखमय जीवन की एक विशाल सघन छाया उठ गई हो। उनके गुणों का स्मरण कर श्रद्धा से उसका हृदय भर उठा। ···· ···

······ ········· ···

बीते दुखों और बीती हुई घटनाओं पर परदा डालने के लिये हर दिन अँधेरी रात का एक नया रूप धारण करता है। मानव-जीवन में यदि ये रात और दिन नहीं होते तो मनुष्य जीवन के दुःखों और दुर्घटनाओं को बीते हुए रात और दिन की भाँति भूलकर जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने की

नई प्रेरणा पाने में सर्वथा असफल सिद्ध होते। हर निशा गोद के दिवस को भुलाकर एक नये दिवस का प्रजनन करती है।

× × × ×

कुछ दिनों के बाद नैहर में कानन के दरवाजे पर एक साधू ने भिक्षा की आवाज लगाई। दोपहर का समय था। कानन की भाभी देवकी उस समय अपना बच्चा सुलाने में व्यस्त थी। जब उस साधू ने तीन-चार बार आवाज लगाई तो भिक्षा देने के लिये आखिर उसे उठना ही पड़ा। बच्चे को गोद में लेकर वह ज्यों ही आगे बढ़ी कि उसने देखा—कानन एक पात्र में भिक्षा लिये देने के लिये जा रही थी। वह भी कानन के पीछे-पीछे गई। फिर उसने देखा—उस साधू के भिक्षा-पात्र में भिक्षा डालते समय साधू कानन को गौर से देखने लगा। लम्बी-लम्बी जटा-जूटों के बीच और तमाम अंगों को भस्मों से पोते, अपनी ढलती बेला का वह योगी दुपहरिया की उस निस्तब्ध बेला में बड़ा ही डरावना लग रहा था।

कानन योगी के उस अस्वाभाविक पर्यवेक्षण से दहल उठी। भिक्षा देकर वह शीघ्र ही लौट गई। योगी भी जाने के लिये झोली समेटने लगा कि देवकी ने उसके पास जाकर पूछा—"अभी आप बड़े गौर से क्या देख रहे थे महाराज ?"

योगी हिचकिचाते हुए बोला —"कुछ नहीं···कुछ नहीं...।"

और दूसरे ही क्षण वह गंभीर हो गया ! जाने के लिये उठना ही चाहा कि देवकी पुनः बोल उठी —"नहीं महाराज, कुछ बात तो अवश्य हैं; लेकिन आप बताना नहीं चाहते!" और जिज्ञासा-पूर्ण नेत्रों से वह योगी को देखने लगी।

एक दीर्घ निश्वास लेकर योगी ने कहा—"यह लड़की तुम्हारी कौन होती है बेटी?"

देवकी ने उत्तर दिया—"यह मेरी ननद है महाराज ! मुझे यह एक ही ननद है; बड़ी सुशील है बेचारी।"

"हाँ बेटी, मैं भी तो यही देख रहा था ! इसके ललाट की रेखाओं में राज-रानी के लक्षण हैं, लेकिन ..." और योगी कहते-कहते रुक गया।

देवकी ने अधीर होकर पूछा—"लेकिन क्या महाराज ?"

योगी ने उदास होकर उत्तर दिया—"चार-छः महीने के बाद इसपर शनि का कोप होगा। यदि किसी प्रकार यह कोप टल सका तो यह बहुत बड़ी सौभाग्यवती होगी; अन्यथा इसकी सुहाग-रेखा को वैधव्य की रेखा काटने जा रही है, इस ग्रह का निवारण होना अनिवार्य है बेटी !"

देवकी विकल हो उठी। वह योगी से विनय करती हुई बोली—"कृपाकर आपही इसका कोई उपाय बता दीजिये महाराज ! चाहे जितना भी खर्च हो, लेकिन किसी भी प्रकार यह संकट दूर होना ही चाहिये; नहीं तो हम मिट जायेंगे महाराज !"

"हाँ बेटी, मनुष्य तो केवल अपना कर्त्तव्य करता है, फल देनेवाले तो भगवान हैं; फिर कर्त्तव्य करने में क्यों चूका जाय ?" उसने बताया—"नित्य-प्रति पाँच सधवाओं को यह सिंदूर दान किया करे, सुबह सोकर उठने के बाद सर्व-प्रथम किसी बालक का दर्शन करे, नित्य स्नान कर सात सौ बेलपत्र पर शिव का नाम लिखकर पार्वतीजी को चढ़ावे तथा ...... तथा दो वर्ष तक पति से समागम न करे। इस अवधि तक यदि इसके सुहाग की रक्षा हो सकी तो समझना बेटी, कि इसका सुहाग अखंड है तथ इसके दरवाजे पर हाथी झूमेंगे।"

देवकी गंभीर चिंता में डूब गई। योगी भी उठकर चला गया।

(१९)

कमलकान्त को कर्नल साहब की पुर्सिस में जाना पड़ा। जाकर देखा तो अजीत बिल्कुल घबड़ा गया था। लौकिक अनुभवों से हीन उस युवक को श्राद्ध का प्रत्येक प्रबन्ध पहाड़-सा प्रतीत होता था। सचमुच यदि कमलकान्त नहीं

गया होता तो अजीत से कुछ भी करते न बना होता। अतः श्राद्ध का सारा प्रबन्ध कमलकान्त को अपने ही हाथों लेना पड़ा। अजीत को बड़ी राहत मिली।

बीच में कमलकान्त एकाध दिन के लिये शिवनगर जाना चाहता था, क्योंकि पूर्णिमा के दिन मंदिर में झूलन-समारोह पर कुछ नई संस्थाएँ खोलने की उसकी उत्कट अभिलाषा थी। वह चाहता था कि उस दिन कुछ बड़े-बड़े लोगों को आमंत्रित कर कुछ चन्दे वसूल लिये जायँ। वह जानता था कि इस सम्बन्ध में त्रिवेणी बिल्कुल तटस्थ है: उसे इन उत्सव और समारोहों से कोई खास दिलचस्पी नहीं। और ऐसे तो अकेले वह और भी कुछ न करेगा।

जैसे ही उसने अपने जाने का प्रस्ताव अजीत के सामने रखा तो वह रुष्ट होकर बोला—ठीक है, आप शिवनगर जाइये और मैं पटना चला जाता हूँ; श्राद्ध करने की क्या आवश्यकता? यदि आवश्यकता होगी भी तो गाँववाले चन्दा जुटाकर कर देंगे।.....

कमलकान्त अजीत के इन व्यंग-बाणों से आहत हो उठा। सोचने लगा—"सच ही तो कहते हैं ये। मैं इनका अपना आदमी हूँ; ऐसे अवसरों पर जब 'अपना' ही काम न आवे तो फिर 'पराये' का क्या पूछना?"

और यही सब बातें सोचकर कमलकान्त को मन मारे वहाँ रुक जाना ही पड़ा।

अतः मन्दिर का वह झूलन-समारोह, जिसके विषय में

कमलकान्त अनेक तरह की बातें बोलता आया था—आयोजित नहीं हो पाया। शहर से कोई हाकिम-हुक्काम भी नहीं बुलाये जा सके।

उधर त्रिवेणी भी मंदिर की ओर से कुछ उदास ही रहता था। उसके लिये कुसुमलता एक विकट समस्या बन गई थी। कानन के सहवास से उसके भी जीवन में सांसारिक सुखों और भोगों की भावना हिलोरें लेने लगी थी। दिन-दिन उसका सौंदर्य यौवन की अंगड़ाइयाँ लेकर निखरने लगा था। होठों की मुस्कान में एक चपलता-सी आ रही थी। खाने-पहनने की अभिरुचि भी दिन-दिन उसकी बढ़ती जा रही थी। एक दिन उसे अजीत से मजाक करते हुए भी देख लिया था उसने।

त्रिवेणी के हृदय में एक भय हुआ। विकट योग की साधना करनेवाला वह पुजारी कुसुमलता को अपनी राह की फिसलन समझने लगा तथा अपने पथ का रोड़ा समझकर उसे पथ से उठाकर दूर फेंक देना चाहता था, लेकिन कोई उचित युक्ति ही नहीं दिखाई पड़ती थी उसे। इन्हीं चिंताओं में मौन होकर प्रबल काल की गति परखने लगा।

उसदिन पूर्णिमा थी। झूलन का निस्तार था। कुसुमलता और मिट्ठू ने गाँव के कुछ धार्मिक लोगों तथा उत्साही बच्चों के सहयोग से मन्दिर की मामूली सजावट कर दी। चार बजे से ही दर्शकों का आना प्रारंभ हो गया। बिना

किसी विज्ञापन और निमंत्रण के देखते ही देखते दर्शकों की भीड़ से मंदिर का आँगन भर गया। छः बजे शाम तक उनकी संख्या डेढ़ हजार से ऊपर हो चुकी थी।

अतः बाध्य होकर त्रिवेणी को आज मन्दिर की आरती में विशेष रूप से भाग लेना पड़ा। इधर बहुत दिनों के बाद आज वह सिर घुटाकर पीताम्बरी धोती और रेशमी चादर में जब व्यासगादी पर बैठा तो उसका ओजस्वी रूप दिव्य भाल और प्रशस्त नेत्र इस भाँति चमक उठे जैसे ब्रह्म को आत्मसात् कर लेनेवाला कोई महान तपस्वी स्वयं ही ब्रह्म बन बैठा हो।

दर्शकगण पुजारी जी के दर्शन कर अपने को धन्य समझने लगे। फिर धार्मिक प्रवचनों के बाद कुसुमलता का भजन आरम्भ हुआ। दर्शकों का ठट्ठ लग गया था। भजन के आकर्षण ने समस्त दर्शकों को बाँध रखा था। रात नौ के लगभग हो रही थी। मशालों के तीव्र आलोक में मंदिर का आँगन जगमगा रहा था। मंदिर की पुती हुई दुधिया दीवारें विहँस रही थीं।

त्रिवेणी के हृदय में एक बात की अभिलाषा बहुत दिनों से थी। वह शिवनगर में एक ऐसा स्कूल खोलना चाहता था जिसमें ग्रामीणों के बच्चे आदर्श शिक्षा पाकर योग्य नागरिक बन सकें। लड़के-लड़कियाँ जीवन में प्रवेश कर सुख-शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकें। और यह तभी

संभव था जब बच्चों के मौलिक संस्कार में एक आदर्श संस्करण लाया जाता। सुन्दर संस्कार उचित शिक्षा और स्वस्थ्य समाज के बीच सुविकसित होता है। भविष्य के नागरिकों को योग्य बनाने के लिए, उन्हें सुसंस्कृत करने के लिए आदर्श पाठशालाओं की आवश्यकता है; वे पाठ-शालाएँ—जहाँ आज की भाँति शिक्षा का क्रय-विक्रय नहीं होता, बल्कि जहाँ साधना-मन्दिर का दान और दीक्षा मिले। ऐसी पाठशालाओं के लिये शिक्षित और चरित्रवान अध्यापक-अध्यापिकाओं की जरूरत है जिनके चरित्र और व्यक्तित्व से ही छात्रों को बहुत-कुछ मिल सके।

किन्तु, आज के इस विषम आर्थिक युग में ऐसी संस्थाओं के लिये भी सर्वप्रथम पर्याप्त द्रव्य की ही आवश्यकता है।

इन्हीं भावनाओं को हृदय में छिपाकर त्रिवेणी आज व्यासगादी पर बैठा था।

करीब-करीब भजन भी अब समाप्त हो चुका था किन्तु दर्शक ज्यों के त्यों बैठे ही थे। सबलोग आरती और चढ़ौवे के समय की प्रतीक्षा में थे।

मिट्ठू ने एक तश्तरी में कपूर और पान लाकर दिया। त्रिवेणी गादी से उठा और युगल मूर्ति की आरती करने लगा तो कुसुमलता संगीत का अंतिम स्वर साधकर गाने लगी—

"दरस बिन दूखन लागे नैन ....।"

युगल मूर्ति की आरती समाप्त हो जाने के बाद त्रिवेणी

ने मिट्ठू को तश्तरी थमा दी। आरती की तश्तरी मिट्ठू ने सबसे पहले कुसुमलता के सामने रख दी।

कुसुमलता निमिष मात्र के लिये हिचकिचाई; फिर बटुवे का मुँह खोलकर तश्तरी में उड़ेल दिया। कुछ नये नोट, कुछ चाँदी के सिक्के और कुछ सोने की गिन्नियाँ तीव्र आलोक में विकीर्ण हो उठीं। समस्त दर्शकों की आँखें एकाएक चौंक पड़ीं। लगभग एक हजार का द्रव्य था उसमें।

मिट्टू ने आरती तश्तरी से एक बड़ी थाल में ले ली और दर्शकों में बाँटने लगा। फिर दस-पाँच, दो-एक, अठन्नी-चवन्नी थाल में गिरने लगी।

उपस्थित भक्त-दर्शक आज थाल पर कुछ चढ़ाने का विचार पहले से ही लेकर आये थे। उसमें भी जब हजार का सगुन कुसुमलता ने ही किया तो शेष पैसेवाले दर्शक अपनी इज्जत बचाने के लिये चिंतित हो उठे। कुछ नाम-गाम के लिये भी उन्हें अधिक चढ़ाना ही पड़ा।

जब आरती बाँटनी समाप्त हो गई तो थाली भर चुकी थी।

अब गाँव के पाँच-छः युवक प्रसाद-वितरण के लिये उठे कि पड़ोसी गाँव का एक धनी किसान तेजी से आगे बढ़ा और प्रसाद वितरकों को तनिक रुकने का संकेत कर फिर त्रिवेणी से कुछ बातें करने लगा। दर्शकों की उत्सुक आँखें पुजारी और उस धनी किसान की पगड़ी में टँग गई थीं। मोटे कपड़ों में वह किसान, करीमपुर मौजे का सबसे बड़ा धनी

आदमी रामू मड़र था। लाखों की सम्पत्ति थी उसकी लेकिन चार शादियाँ किये बैठा था; मगर कोई संतान न थी। पिछले साल के झूलन में वह चारों पत्नियों के साथ भगवान के दर्शन करने इसी मंदिर में आया था और मनौती रखी थी—"हे भगवान, यदि मुझे एक पुत्र-रत्न दे दो तो मैं सोने का मुकुट चढ़ाऊँ तुझे !"

इसमें क्या रहस्य था सो तो भगवान ही जानें, किन्तु यह आश्चर्य का विषय था कि डेढ़-दो माह पूर्व उसे पहली पत्नी से ही एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक बड़ा ही सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट था।

अतः इन दिनों रामू मड़र बड़ा ही प्रसन्न रहता था। अपने ऊपर भगवान की यह असीम अनुकम्पा समझता था। आज वही मुकुट चढ़ाने की घोषणा करने आया था वह।

कुछ क्षणों तक तो त्रिवेणी और रामू मड़र में बातें होती रहीं, फिर लोगों ने देखा—पुजारीजी दर्शकों से कुछ कहने का संकेत कर रहे थे। समस्त दृष्टियाँ पुजारी के मुँह पर केन्द्रित हो गईं।

त्रिवेणी बोलने लगा—"उपस्थित सज्जनो, भगवान की महिमा विचित्र है। हम अज्ञान जीव जब बीच धारा में हाथ पटकते-पटकते थक जाते हैं तो समझ लेते हैं कि किनारा कहीं है ही नहीं, और इसी निराशा में हम अपने अनमोल प्राण खो बैठते हैं।

और भगवान हैं कि मनचले मदाड़ी की भाँति हमें नचा-नचाकर परेशान कर डालते हैं।"

दर्शक तल्लीन होकर त्रिवेणी की बातें सुन रहे थे।

त्रिवेणी कहता ही जा रहा था—"हमें जीवन में जब असफलता मिलती है, हम नास्तिक भावों से भर कर ईश्वर की सत्ता में ही संदेह करने लगते हैं। तब हम अपने पथ को—अपने जीवन को और भी जटिल और अशान्त बना लेते हैं। ईश्वर के रूप चाहे हम जो भी निर्धारित करें; किन्तु ईश्वर है ही नहीं, यह हम नहीं कह सकते। एक शरीर के समस्त यंत्रों को चालित करने के लिये जब किसी एक चेतना की आवश्यकता पड़ती है—वही चेतना जो हमारे मन और हमारी आत्मा को भी नियंत्रित करती है—तो फिर इतने बड़े ब्रह्माण्ड की ऐसी सुन्दर व्यवस्था के लिये क्या कोई भी चेतना नहीं होगी? अगर हम मानते हैं कि एक चेतना है; तो उसी चेतना को हम ब्रह्म कहते हैं, इस विराट विश्व का नियंता और नियामक कहते हैं, रूप और रंग चाहे जो भी हों। गुड़—गुड़ है; और गुड़ की मिठाई भी गुड़ ही है। हाँ, रूप और रंग में भले ही परिवर्तन हो जाता है।

"एक कुम्हार मिट्टी के अनेक बर्तन बनाता है और बनाकर धूप में सूखने को डालता है। उनमें कुछ तो धूप में सूखकर चिनक जाते हैं, कुछ टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं और अनेक साबूत भी बच जाते हैं। यदि टूटे हुए बर्तन यह कहें कि कुम्हार को

बर्तन बनाने ही नहीं आता तो क्या वे समस्त अच्छे बर्तन इसे स्वीकार करेंगे ?

"ठीक वैसी ही बात जीव और ब्रह्म की भी है। जब हमें सफलता मिलती है तो हम 'उस पर' विश्वास करने लगते हैं और असफलता पर नास्तिक हो जाते हैं।

"और ईश्वर !

"वह तो चतुर शिल्पी हैं। उन्हें जिस वस्तु की आवश्यकता होती है—उसकी वह स्वयं रचना कर लेते हैं। अज्ञान मानव यह समझता है कि यह तो मैंने किया है । लेकिन कुम्हार की उन रचनाओं से कोई पूछे जो एक ही व्यक्ति के द्वारा एक ही चाक पर, मिट्टी के एक ही ढेर से बनाई गई हों, फिर भी उनके रूप विभिन्न होते हैं। कोई घड़ा है तो कोई कढ़ाई। कोई दीया है तो कोई नाद। कोई हाथी है तो कोई घोड़ा,—कोई दुलहिन है तो कोई दुलहा।

"अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्ति सचमुच ही कुछ नहीं करता है। सभी कार्य तो उसके द्वारा संपादित होते हैं—जिसे इस विराट विश्व की व्यवस्था करनी है। व्यक्ति तो केवल यंत्र की भाँति उसके संकेत और इशारों पर चलता रहता है।"

धर्म-कर्म और जीव-ब्रह्म की ऐसी सरल और सुन्दर व्याख्या सुनकर जिज्ञासु भक्त गद्गद हो उठे। मन में वे सोच रहे थे—"वह ब्रह्म तो हमारे बीच स्वयं ही इस पुजारी

के रूप में विराजमान है; फिर हम उस पर व्यर्थ के तर्क-वितर्क और शंका-समाधान ही क्यों करने लगे ?"

त्रिवेणी बोलता ही जा रहा था—"आज एक परम हर्ष का विषय है कि करीमपुर के रामू मड़र जी ईश्वर की कृपा को पुत्र-प्राप्ति के रूप में पाकर विहारीजी के नाम से दस हजार रुपये चढ़ा रहे हैं। इन रुपयों से एक पाठशाला खोली जायगी जिसका नाम होगा—विहारी-पाठशाला।

"इस पाठशाला को एक आदर्श पाठशाला का रूप देने में हमें और भी रुपयों की आवश्यकता पड़ेगी। मुझे आशा है, विहारीजी अपनी आवश्यकता स्वयं आप ही पूरी कर लेंगे। जब वे दूसरों की माँगें पूरी किया करते हैं तो क्या फिर अपनी ही माँगें पूरी न करेंगे ?"

और त्रिवेणी मुस्करा उठा। साथ ही साथ दर्शकों की खिलखिलाहट भी गूँज उठी। रात अधिक हो चुकी थी। अतः प्रसाद का वितरण आरम्भ हुआ। लोग प्रसाद पा-पाकर मंदिर की मूर्तियों और पुजारी को नमस्कार कर अपने-अपने घर जाने लगे। मुँह-मुँह पर चर्चा थी—बड़ी तपस्या थी इस गाँव और इस मंदिर की, जो आज छोटे पुजारीजी के परिश्रम और त्याग से गुलजार बन गया। धन्य हो पुजारी जी, और धन्य है तुम्हारी महिमा कि मिट्टी को भी छूने से सोना बन जाता है।

करीब आध या पौन घंटे के अन्दर ही मंदिर की सारी

भीड़ छँट गई। त्रिवेणी भी अपने वस्त्र बदलकर मंदिर के आँगन में एक तकिये के सहारे चौतरे पर लेट गया। आज वह बहुत थक गया था। दिन भर इधर-उधर का प्रबन्ध करते-करते इस समय कहीं आराम पा सका था। आकाश काली-काली घटाओं से आच्छादित था। एकाध बूँद भी टपक जाती थीं। ठण्डी-ठण्डी हवा की लहरों के संग उस बरगद की सघन डालियाँ हहर उठती थीं। शीतल समीर का मधुर स्पर्श पा उसे झपकी आ गई। समीप ही एक बाँस के खँभे में टँगा पेट्रोमैक्स साँय-साँय कर जलते हुए हवा में झूल रहा था कि मिट्ठू ने आकर कहा—सो गये बाबू! और फिर वह त्रिवेणी के जगने की प्रतीक्षा करने लगा। उसकी गमछी में थाली के समस्त गिने हुए रुपये थे।

किन्तु त्रिवेणो ने सुना नहीं।

उसका हाथ डुलाते हुए फिर कहा मिट्ठू ने—बाबू···सो गये बाबू?

इस बार त्रिवेणी ने आँखें खोलीं। एक अँगड़ाई लेकर उठते हुए बोला—ओ मिट्ठू दादा, बोलो क्या बात है?

मिट्ठू ने गमछी के रुपयों की ओर संकेत करते हुए कहा—इसे कहाँ रख दूँ बाबू ?

"ले जाकर मंदिर की सन्दूकची में रख दो या कुसुमलता को थमा दो। कमलकान्तजी के आ जाने पर फिर तो ये रुपये उन्हीं के पास लग जायेंगे। दो-तीन दिन की ही तो

बात है !"—त्रिवेणी के शब्दों में लापरवाही थी। इतने सारे रुपयों को भी जैसे वह मिट्टी का ढेला ही समझ रहा हो।

मिट्ठू कुछ बोलना चाहता था। शायद वह बोलना चाहता था कि "इतने रुपये इस भाँति लापरवाही से मंदिर में रखना उचित नहीं।" किन्तु कुछ बोला नहीं। जब जाने लगा तो केवल इतना ही बोला—कुसुम के द्वारा चढ़ाई हुई गिन्नियों को छोड़कर नकद—दो हजार साढ़े तिरपन रुपये हुए।"—और फिर त्रिवेणी के मुँह की ओर ताकने लगा। शायद वह किसी पुनरअनुमति की अपेक्षा कर रहा था।

किन्तु त्रिवेणी अपनी आदत के अनुसार बोल उठा—ठीक है, ले जाकर रख दो।

मिट्ठू चला गया।

त्रिवेणी फिर तकिये के सहारे उठंग कर कुछ सोचने लगा। इस बार उसकी पलकों में खुमारी नहीं थी। वह कुसुमलता के बारे में सोच रहा था। वह सोच रहा था—"आह, मैं इससे जितना ही दूर होना चाहता हूँ उतना ही यह मेरे समीप आती जा रही है। और मैं हूँ कि अवाक होकर सब कुछ केवल देखकर ही रह जाता हूँ। मैं उसे कुछ कह नहीं पाता। चाहता हूँ कि वह इस मन्दिर से कहीं अन्यत्र चली जाय, नहीं तो बाध्य होकर मुझे ही यहाँ से चला जाना होगा। चाहता हूँ कि उससे साफ-साफ कह दूँ कि तुम यहाँ से चली जाओ क्योंकि काई बनकर तुम मेरे पथ में छा

रही हो। तुम में वह सौन्दर्य है, वह आकर्षण है—वह नशा है जिसके आगे बड़े-बड़े सिद्ध सन्त और महामुनियों ने भी सिर टेक दिये; फिर मेरी क्या बिसात! फिर मैंने तो सांसारिक सुखों के अभाव में एक तिरस्कृत जीवन का वैराग्य धारण किया है; मेरा वैराग्य अधूरा है। मेरे मन में भोग-विलास की कामना है, मैं अतृप्त हूँ, प्यासा हूँ। ना, ना, मुझपर दया करो कुसुम! अन्यथा इस तूफान में मैं तिनके की भाँति उड़ जाऊँगा; मैं कहीं का न रह जाऊँगा तब। मेरे इतने दिनों की सारी कमाई नष्ट हो जायगी। लोग मेरे नाम पर थूकेंगे। कहेंगे—यह प्रवंचक,—यह पापी—दुनिया की आँखों में धूल झोंकने वाला ठग-देखो वह जा रहा है! ओह, मेरा जीवन आज इतना आगे बढ़ आया है कि पीछे लौटना भी मेरे लिये अब संभव नहीं। यह जीवन आज मेरा नहीं; जनता का है। पीछे लौटना कायरता है, अपराध है। ना, मुझसे अब ऐसा नहीं हो सकता। मुझे कुसुमलता को अपनी राह से हटाना ही होगा अथवा मैं ही यहाँ से चला जाऊँगा।"

और उसने निश्चय किया—"सबेरे कह दूँगा कुसुमलता से कि वह बनारस चली जाय; मंदिर में नहीं रह सकती है वह!"

किन्तु उसके हृदय ने प्रतिवाद किया - "लेकिन क्यों? किस अपराध पर उसे तुम हटाना चाहते हो? उसने तो आजतक तुम से कभी कुछ कहा नहीं, न कभी उसका कोई संकेत ही

मिला है तुम्हें! फिर उससे डरकर अपनी दुर्बलता दिखाने का यह मूर्ख अभिनय ही क्यों? यदि उसमें कोई कमजोरी भी आ गई हो तो तुम तो सबल हो! तुम्हें उसे संभाल लेना चाहिये। आँधी में पत्तों की भाँति यदि ढेले भी उड़ जायँ तो फिर ढेले और पत्ते में अन्तर क्या रह जायगा?

और फिर तुम उसे हटा ही कैसे सकते हो? जनता की नजरों में घृणा के बदले वह प्रेम का भाव अर्जित कर रही है। मंदिर और तुम्हारी सेवा में वह इतनी संलग्न रहती है कि गाँव का बच्चा-बच्चा उसे मन्दिर की पुजारिन के नाम से जानने लगा है। उसके त्याग और उसकी सेवा से उसके पिछले जीवन का पाप भी पुण्य बनता जा रहा है।"

त्रिवेणी की आत्मा ने उसे कितना ही ढाढ़स बंधाया लेकिन आज वह अशान्त था। कुछ निश्चित रूप से वह सोच ही नहीं पा रहा था कि उसे क्या करना चाहिये।

इधर कुछ दिनों से कुसुमलता अनजाने ही उसके जीवन के निकट संपर्क में आती जा रही थी। बनारस से लौटने पर भिट्टू की तबीयत कुछ खराब हो गई थी। अतः बिहारी जी का भोग कुसुमलता ने ही तैयार किया। तब त्रिवेणी ने भी कोई आपत्ति नहीं की थी। तबसे मन्दिर का भोग कुसुम-लता ही बनाती रही। उसे इन कामों में बड़ा आनन्द मिलता था। समय और सफाई का भी उसे पूरा ध्यान रहता। भोग लगने के बाद जब प्रसाद की तश्तरी वह त्रिवेणी

के सामने रख देती तो उसे रुचिपूर्वक भोजन करते देख कुसुमलता को एक अनुपम तृप्ति मिलती थी, उसे एक स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति होती। किन्तु उसके अन्तस्तल में भावनाओं की कौन सी तरंगे आलोड़ित हो रही थीं—यह तो वही जान सकती थी।

कुछ ही क्षणों के बाद कुसुमलता त्रिवेणी के पास जाकर बोली - भोजन परस कर तैयार है, ओह, देखिये तो कितनी रात हो गई! चलिये भोजन कर लीजिये, - मुझे बड़ी जोरों की नींद आ रही है; मिट्ठू दादा भी उकता रहे हैं।

"हाँ, चलो—आता हूँ।" और हाथ-मुँह धोने के लिये वह इनारे पर चला गया।

जब त्रिवेणी भोजन करने लगा तो कुसुमलता बोली—जब कमल बाबू आयेंगे और इतने चन्दे की बात सुनेंगे तो बहुत खुश होंगे वह।

त्रिवेणी ने मुस्कुराते हुए कहा—इसी चन्दे के लिये तो वह शहर के रईसो को बुलाना चाहते थे, और बैठे-बैठे इतने रुपये आ गये! सब ईश्वर की दया है कुसुम।

कुसुमलता प्रफुल्ल होकर बोली—"इन रुपयों से क्या काम करने का विचार है आपका?" आज कुसुमलता का अणु-अणु हर्षातिरेक से विह्वल हो रहा था।

त्रिवेणी बोला—एक नये ढङ्ग का विद्यालय खोलना है जिसमें छात्र एवं छात्राएँ जीवनोपयोगी आदर्श शिक्षा पाकर

कुशल गृहस्थ बन सकें। लेकिन इसमें पर्याप्त रुपये खर्च होंगे।

कुसुमलता ने जिज्ञासा भरे स्वर में पूछा फिर भी कितने रुपये लगेंगे?

त्रिवेणी ने उत्तर दिया—लगभग पच्चीस हजार!

"यदि इतने रुपये हो जायँ तो आपका विद्यालय चल जायगा न?" और उत्तर की प्रतीक्षा में वह त्रिवेणी का मुंह ताकने लगी।

"लेकिन पच्चीस हजार रुपये कोई कम नहीं होते कुसुम!

फिलहाल विद्यालय-भवन के निर्माण में काम तो लगा ही देता हूँ; फिर धीरे-धीरे चन्दा एकत्रित होता रहेगा। वह स्वप्न पूरा होने में कमसे कम तीन-चार वर्ष की देर है अभी।"

"बस, इतने-से रुपये के लिये इतनी देरी? सारे रुपये मैं पूरा कर दूँगी—आप काम तो लगाइये!"

"नहीं कुसुम, तुम अपना रुपया अभी रखो रहो! जब चारों तरफ से निराश हो जाऊँगा तब ले लूँगा तुमसे। अभी देखो तो—बिहारी जी स्वयं ही कोई प्रबन्ध कर देंगे।"

त्रिवेणी भोजन कर उठ गया। मिट्ठू अभी खा ही रहा था। कुसुमलता ठुड्डी पर हाथ रखे बैठी-बैठी कुछ सोच रही थी।

खल रही है इसे !

किन्तु माँ ने उसके तनिक और पास सरककर धीरे से कहा—एक बात कहूँ, मेरी बात मानोगे बेटा ?

अजीत की उत्सुकता बढ़ गई थी। सम्पूर्ण वाक्य सुनने के लिये माँ का मुँह ताकने लगा।

माँ बोली—अगर भला चाहते हो तो मेरी बात मान लो बेटा,—तुम दूसरा ब्याह कर लो !

अजीत माँ की बातें सुनकर दंग रह गया। आज माँ ऐसी अटपटी बातें क्यों बोल रही है—उसकी समझ में न आया। उसने कुछ खोये-से स्वर में कहा—दूसरा ब्याह कैसा माँ ?

माँ ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया—हाँ, हाँ दूसरा ब्याह.... लोग कहते हैं कि कानन का पैरा ठीक नहीं; सच तो, उसके आते ही आते घर में भंगड़होड़ लग गई। तुम्हीं देख लो न, हाथी जैसा बैल मर गया, घोड़ा बेकाम हो गया, नौकर-भाग गये—तुम्हारे बाप की क्या दशा हुई; और अब मेरी भी आखिरी ही समझो। यदि कुछ दिन वह इस घर में और रही तो न मालूम और क्या-क्या हो जायगा ?

अजीत अपनी ही माँ के मुँह से कानन के प्रति ऐसी अमानुषिक बातें सुनकर क्रोध से लाल हो गया। किन्तु अपने क्रोध को छिपा रखने में हीं उसने कुशल समझा। बोला—यह तो बड़ा जटिल प्रश्न है माँ ! तुम्हारे हृदय में जो शंका

घर कर गई है—उसे खंडन करने का मेरे पास कोई तर्क नहीं। और उसे मैं ठुकरा दूँ—मेरी समझ में यह पाप है—पशुता है। फिर मेरे पास उपेक्षा का कोई न्यायसंगत आधार भी तो नहीं! मुझ पर दया करो माँ ···· ! मुझसे ऐसा करते न बनेगा। इसके अतिरिक्त तुम जो भी कहो—तुम्हारी आज्ञा मेरे सिर पर।

माँ अपने वार को खाली जाते देख कटु वाक्य का दूसरा प्रहार कर बैठी—ठीक है, तब रहो घर में तुम्हीं दोनों मियाँ-बीबी। दुनिया इतनी बड़ी है—किसी की चक्की पीसकर भी गुजर कर लूँगी; ये दोनों बच्चे हैं—मेरा कर्त्तव्य है कि तुम्हारी ही तरह इन्हें भी पाल-पोस कर बड़ा कर दूँ; आगे चलकर चाहे ये पूछें या ठुकराएँ! कोख की काया को भला मैं कैसे त्याग सकती हूँ? तुमलोग चाहे भले ही लौंडी बनाकर दुत्कारो मुझे।

अजीत समझ गया कि माँ की मोटी बुद्धि में कानन की शिकायत की तरह दृढ़ हो गई है! मैं इससे प्रतिवाद कर मना नहीं सकता। यदि मैं तनिक कड़ा पड़ जाऊँ तो माँ-बेटे के कलह से लोगों को हँसने का मौका मिल जायगा। यथार्थ में कुछ घरफोड़ों ने ही इसका कान फोड़ा है—आखिर औरत ही तो ठहरी! क्षुद्र बुद्धि है—इससे माथा लड़ाना व्यर्थ है!

अतः नम्र स्वर में अजीत बोला—अच्छा एक बात बताओ

माँ, दूसरा व्याह कर लेने से कानन मर तो नहीं जायगी......
और हम उसे मार भी तो नहीं सकते। फिर तुम्हीं बताओ
माँ कि उससे कैसे पिण्ड छूटे !

इस बार माँ कुछ खुश हुई। उसे अपनी सफलता का
तनिक आभास मिला था। वह बोली--चाहे वह मरे चाहे
जीये—नैहर में पड़ी रहेगी; बहुत करेगी तो खाना-कपड़ा
लेगी; यही न ? सो तुम बीस-पच्चीस रुपये महीने उसे भेज
दिया करना !

अजीत अपनी हँसी रोक न सका। माँ की ऐसी अज्ञा-
नता पर उसे तरस खाना पड़ा। वह बोला—अगर दूसरी
पतोहू भी वैसी ही हुई तब माँ ...?

और माँ दृढ़ स्वर में बोली—नहीं, ऐसा नहीं होगा।
सो क्या बार-बार ऐसा ही होता रहेगा ?

"तुम यही नहीं कह सकतीं माँ कि ऐसा होगा या नहीं।
खैर ! यह क्यों नहीं किया जाय कि कानन को कभी यहाँ
लाऊँ ही नहीं। इस घर में वह रहेगी तब न कुछ अशुभ
होगा ! कहो तो जिन्दगी भर उसे मैं नैहर में ही छोड़ दूँ।
और अजीत कौतुहल से माँ को निहारने लगा।

उसकी माँ यह समझ गई कि अजीत बहला रहा है उसे।
वह रंज होकर बोली—जो तुम्हारे मन में आये सो करो—
जब बेटा नालायक निकल गया तो माँ-बाप बहुत करेंगे तो
सिर धुनकर रह जायेंगे। मुझे क्या, कुछ दिनों का और

मेहमान हूँ। फिर जब तुम्हारे ऊपर पड़ेगी तब तुम्हें मालूम होगा! और वह खिन्न हो उठकर चली गई।

अजीत भी हृदय का दर्द छिपाये दरवाजे की ओर चला गया। तब से घर में उसका एक क्षण भी मन न लगा। तीन-चार दिन के बाद वह पटना चला गया। जाते वक्त दो दिन शिवनगर में ठहर गया था।

इस बार ससुराल जाते ही उसे कानन में कुछ परिवर्तन दीख पड़े। सारा दिन बीत गया लेकिन उसके समीप वह एक बार भी न आई और न तो मिलन अथवा मधुर संभाषण की कोई उत्सुकता ही प्रकट की उसने। इसके पहले अजीत आँगन में सतत् उसके किसलयी होठों का मधुर मर्मर सुना करता था। उसकी पायलों की झंकार, उसके सजाये हुए श्रृंगार का मदान्ध सौरभ कच कुन्तलिकाओं की घन घटा में उसके मन-मयूर को बाँधकर हर्षोत्फुल्ल हो नाच उठने के लिये तब वाध्य कर देता था।

किन्तु, आज कानन के अधरों पर वीणा-विनिंदित स्वर की वह मधुरिमा न थी। आज देवकी की भाषा भी कुछ मौन और नियंत्रित दीख पड़ती थी। एकाध बार उसने कानन को आँगन से निकलते देखा भी किन्तु उदास-सी खामोश। न वेणी में श्रृंगार था न शरीर के कपड़े ही सुथरे-सँवारे। उसकी सजल जलद-सी आँखें बोझिल होकर बर-सना चाह रही थीं।

अन्त में अजीत ने देवकी से पूछा—क्यों सरकार, आज कानन इस भाँति सुस्त क्यों है? मुझसे कहीं नाराज तो नहीं है वह! आज एक बार भी मुझे दर्शन नहीं दिया है उसने?

देवकी चेहरे पर मुस्कान लाने का कृत्रिम प्रयास करती हुई बोली—नहीं, कुछ बात तो नहीं! अपना काम-धंधा देखती है, आपही के पास आकर क्या करेगी?

किन्तु देवकी का वह बनावटी उत्तर अजीत की पकड़ में आ ही गया। वह बोला—नहीं, कुछ बात तो अवश्य है! आप भी मनमारे-सी हैं—शायद उसने कोई धृष्टता तो नहीं कर दी है?

देवकी की आँखें भर आईं। एक निश्वास लेकर बोली वह—बेचारी दो साल तक आपके पास नहीं आ सकेगी; एक साधू ने बताया है कि इन दिनों उस पर एक ग्रह का प्रकोप है। थोड़ा आपको संयम का सहारा लेना पड़ेगा—उसे माफ कर दीजिये आप!

अजीत अपनी हँसी न रोक सका। देवकी की बातों पर हँस पड़ा वह। बोला—बस, इतनी ही बात! कहिये तो मैं दस साल भी संयम निभा सकता हूँ—दो साल की कौन पूछे? लेकिन कोई साधू महाराज उस ग्रह को मेरे सामने आकर बताएँ तब न? ये लोग ग्रह और पीड़ा नहीं बतायेंगे तो उनकी झोली फिर कैसे भरेगी!—और वह ठठाकर हँस पड़ा—ओह, गाँव की

आप जैसी सीधी-सादी औरतों को ठगने के लिये राख पोतनेवाले ये योगड़े भी प्रर्याप्त हैं। कुछ 'और' तो नहीं ठगा है सरकार !

वह देवकी से दिल्लगो करता जा रहा था। लेकिन देवकी के भावों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह चिढ़ कर बोली—आपलोगों को तो हरेक बात ऐसे ही मजाक लगती है। मर्दों की नजर में औरतें तो मूर्ख हुआ करती हैं न, इसीलिये आप हँसते हैं,—अच्छीं बात है, हँसिये ! और वह अजीत का जलपान तैयार करने चली गई।

देवकी के चले जाने के बाद अजीत मौन होकर परिस्थिति पर गंभीरता पूर्वक मनन करने लगा। यों हँसने का तो वह हँस दिया था किन्तु, इस समय उसे भी परिस्थिति की विषमता का ज्ञान होने लगा था। कानन के मुरझाये हुए चेहरे का स्मरण कर उसका हृदय भर आया। वह चाह रहा था कि यदि किसी प्रकार कानन से उसका मिलन हो जाय तो वह उसे अपने सीने से लगाकर उसकी पीठ सहलाये ओर रूमाल से उसके नयन के गीले कोरों को पोछते हुए कहे—पगली, साधू-फकीरों की बातों का भी कोई विश्वास करता है ? उसने तुम्हें ठगा है, झूठ कहा है ! तुम्हारे जीवन में तो चपला की चमक है; कहीं घटाएँ भी चपला को ढँक सकती हैं भला ?

लेकिन कानन उसके पास आने के लिये कभी प्रस्तुत नहीं

थी। उस साधू के एक-एक वाक्य उसके हृदय में पत्थर की लकीर बन गये थे। उसे अपने भाग्य और भविष्य पर विश्वास न था। तब वह फिर उस क्षणिक सुख के लिये जीवन का वह अनंत दुःख मोल लेने की मूर्खता ही क्यों करती ?

मनुष्य अपने बुद्धि और ज्ञान से भले ही अपनी मचलती हुई इच्छाओं को बाँध ले; लेकिन भावुक हृदय जब अपनी असफलता पर क्रंदन करने लगता है तब भावमयी दो आँखों को आँसू बहाने से कौन रोके ?

अजीत ने देखा—कानन भोर के शाखा-च्युत सुमन की भाँति अपने अश्रु-ओसों में भीग, मौन होकर अपने निष्ठुर भाग्य को कोस रही थी।

अजीत का भी हृदय भर आया। उस रात को भली प्रकार उससे भोजन भी नहीं किया गया। उस मौन वाता-वरण में उसकी मुस्कानें भी कहीं खो गईं। चुपचाप आँखें बन्द किये पलंग पर लेट रहा लेकिन हृदय उद्विग्न और अशान्त था। आँखों के कगारों तक आँसू आ-आकर रुक जाते थे—इसलिये कि अजीत पुरुष था।

किन्तु कानन पति को ऐसी उदासी कैसे सहन कर सकती थी ? घर के पिछुवाड़े में वह जाकर रोने लगी। देवकी को मालूम हुआ तो उसने बहुत समझा-बुझाकर उसे चुप किया। फिर दोनों ननद-भौजाई ने साथ ही मिलकर भोजन किया। देवकी जब घर का सारा काम-धंधा ओसारकर

बच्चे को गोद में उठा सोने के लिये अपने कमरे में जाने लगी तो कहा उसने—जा कानो, लालटेन की बत्ती कमकर उनके कमरे में रख आ और बिस्तर-उस्तर ठीक कर, यदि किसी चीज की उन्हें जरूरत हो तो पूछ लेना, फिर आकर मेरे कमरेमें सो रहना !—और वह दिन भर की थकी-माँदी पलंग पर जाकर धम्म से लेट गई। बच्चा चुटुर-चुटुर कर उसका दूध पीने लगा। बालक की आँखें झँपने के पहले उसी की आँखें लग गईं। निद्रा की गोद में वह अचेत हो गई।

कानन डरती-सकुचाती पति के कमरे में गई तो उसकी छाती जोरों से धड़कने लगी। उसने देखा—उसका पति आँखें खोले किसी की प्रतीक्षा में व्याकुल था या किसी गहरी चिंता में मौन। लालटेन की बत्ती कमकर, किसी चीज की जरूरत पूछ वह लौट ही जाने वाली थी कि पति की उस व्यथित मुद्रा को वह सहन न कर पाई। पति के पायताने में बैठकर धीरे से उसका पैर सहलाने लगी। कुछ क्षण बीत जाने पर भी अजीत कुछ बोला नहीं।

कानन उठी और एक लोटा जल गिलास से ढँककर सिर-हाने में रख दिया और फिर कमरे से निकलने लगी कि चौखट तक जाकर रुक गई। मुड़कर देखा उसने तो अजीत ने करवट लेकर एक निश्वास भरी। पति की उन सुकुमार आहों से वह विकल हो उठी। लौट पड़ी वह। पति के सिरहाने बैठकर धीरे-धीरे उसका सिर सहलाने लगी।

फिर क्षीण स्वर में बोली—आज आप इतने उदास क्यों हैं ?

किन्तु अजीत ने कोई उत्तर न दिया, केवल उसके आँचर के छोर को अपनी अँगुलियों से मरोड़ता रहा और जब कानन के नेत्रों से आँसू की दो गरम बूँदें चू पड़ीं तो वह चौंक उठा। बोला—पगली, रोती है तू!—और व्यग्र होकर उसके आँसू पोंछने लगा।

कानन बोली—मेरे रोने का क्या ? विधाता को जब मेरी हँसी नहीं भायी तो आँसू ही बहाती हूँ !

"नहीं कानन, नहीं। भगवान किसी को रुलाते नहीं। मनुष्य स्वयं ही रुदन मोल लेता है। हमारी आत्मा की दुर्बलता हमें भविष्य पर संदेह करना सिखाती है, रोने वाले कायर होते हैं। सामने आई हुई मुसीबतों का स्वागत मुस्कान से करने पर ही मुसीबत टलती है। आँसू तो जीवन की असफलता है! ना रोओ मत! यदि जीना है तो हँसना सीखो।

कानन सोचने लगी—हर व्यक्ति दूसरों के ही आँसू पोंछने में पटु होता है; लेकिन उसे अपने ही आँसुओं की सुधि नहीं रहती। वह बोली—आज आप इतने उदास क्यों हैं ? आप को इस भाँति गुमसुम देखकर मेरा मन मथने लगता है। तब मेरी आँखों में आप से आप ही आँसू भर आते हैं।

अजीत ने लेटे ही लेटे कानन को अपने सीने के समीप खींच लिया और उसके गालों पर हाथ फेरते हुए बोला—मैं

सोचता हूँ, पिताजी का स्वर्गवास होते ही हमारे ऊपर दुःखों और कठिनाइयों का पहाड़ टूट पड़ा है। देखता हूँ कि माँ को तुम फूटी आँखों भी नहीं भातीं, वह चाहती है कि मैं दूसरा विवाह कर लूँ; लेकिन मेरे हृदय के स्पंदनों से कोई पूछे कि मेरा हृदय क्या चाहता है। मैं एक विकट समस्या में पड़ गया हूँ कानन! यह हमारी कठिन परीक्षा का समय है,--डरता हूँ कहीं असफल होकर आँधी के तिनकों की भाँति उड़ न जाऊँ? लेकिन सच कहता हूँ कानन, यदि मुझे तुम्हारा सच्चा सहारा मिल सके तो मैं विकट से विकट परीक्षाओं में भी सफल हो सकता हूँ; बोलो कानन, तुम दोगी मेरा साथ?

कानन ने आर्द्र दृष्टि से अजीत की ओर देखा। उसमें अटूट श्रद्धा-विश्वास और सहानुभूति थी। जैसे उन निराश भरे दो शून्य नेत्रों से कह रही हो—जो तुम्हारे जीवन-मरण की साथिन है—भला वही तुम्हारा साथ न दे? तुम मेरी तरफ से निश्चिंत रहो!

फिर कुछ क्षणों के बाद अजीत ने ही कहा—मैं तो पुरुष हूँ कानन, हर प्रकार के संकटों को झेल सकता हूँ; लेकिन प्यार में पलनेवाला तुम्हारा कोमल हृदय क्या मुसीबतों की चोट को सहन कर सकेगा? न मालूम, हमें जीवन में नल-दमयन्ती के भी दुर्दिन देखने पड़ें और मुझे परिस्थितियों से बाध्य होकर अपने पुरुष हृदय को पत्थर बना, तुम्हें घनघोर

विजन में सोई हुई हो छोड़कर कहीं चला जाना पड़े: तब क्या करोगी तुम कानन ? अवश्य ही मेरे पुरुषार्थ को धिक्कारोगी अथवा धोखेबाज समझकर मुझसे तुम घृणा करने लगोगी। हाँ कानन, मेरे ऐसे दुर्व्यवहारों पर तुम जो कुछ भी कहोगी वह थोड़ा ही होगा। आह ! दुर्विनीत दैव ने तुम्हारे फूल-से जीवन को एक कटीले पेड़ के संग बाँध दिया। मुझसे कभी सुख की आशा न रखो कानन !—और भावोन्मेष होकर कानन को हथेलियों से अपना अशान्त हृदय सहलाने लगा।

कानन सोचने लगी—आज क्या हो गया है इनको ?—और फिर मन में बोली—ये सारे कारनामे मेरे ही तो हैं ! न आज मैं आँसू बहाती और न ये इतने दुःखी होते।

अतः उसने प्रसंग को टालते हुए कहा—मुझे आप घर पहुँचा दीजिये, माँ बड़ी दुखी होंगी—मैं रहूँगी तो थोड़ा जी बहलेगा उनका।

"जी बहलेगा या और भी जलेगा ?"

"नहीं, आप गलत सोच रहे हैं। तब मैं उनके चिढ़ने का उतना ध्यान नहीं करती थी किन्तु अब तो मुझे हर प्रकार से उन्हें खुश रखना ही होगा। नहीं तो लोग हँसेंगे हम पर—छींटे कसेंगे। कहेंगे—वह देखो, एक बूढ़ी माँ को भी प्रसन्न नहीं रख पाते हैं ये लोग।"

"हाँ कानन, तुम कहतो तो ठीक हो, लेकिन तुम्हारी कल्पना के फूल यथार्थता के क्षेत्र में फल धारण कर सकें तब न ? कहीं तुम असफल हो गईं तो रूप और भो घृणित हो जायगा।"

"नहीं, आप मुझ पर विश्वास करें ! वह मेरी सास हैं, —गंगा हैं—हर मूल्य पर मैं उन्हें मनाती रहूँगी। जरा बिगड़ती हैं मुझपर, डाँटतो-डपटती हैं– यही न ? सो मैं कान बन्द कर उनकी हर फजीहत को फूल समझकर आँचर में बटोरती जाऊँगी।"

अजीत को कानन के शब्दों से अपार संतोष हुआ। उसे उसका अन्तररूप नैसर्गिक लगा। उसने मुस्कुराकर कानन को देखा तो कानन भी मुस्कुरा उठी। ऊपर चढ़ा हुआ चाँद खिड़की की राह से कमरे में घुसकर चाँदनी बिखेर रहा था।

(२१)

बहुत तर्क-वितर्क करने के बाद अन्त में त्रिवेणी ने निश्चय किया कि अपनी ही तरह कुसुम लता का जीवन भी किसी ऐसे सार्वजनिक सेवा-कार्य में लगा दूँ कि वह व्यस्त हो जाय

और अपनी ही सुधि भूल बैठे। तब एक दिन उसका जीवन भी उसका अपना न रह जाय; और उसका कार्य-क्षेत्र कोई नगर या नागरिक अंचल हो। इस तरह मेरी राह साफ हो जायगी और भावुक कुसुम की साधना भी सफल हो उठेगी, त्याग और तपस्या से उसके लुटे हुए जीवन में सुमन का सौरभ आ जायगा, दुनिया कुसुमलता का नाम लेगी और उसके नाम के साथ-साथ तब मेरी भी कीर्ति फैल जायेगी। अहा, कितनी मधुर कल्पना है यह! इसी नाम और कीर्ति के लिये तो महापुरुषों ने अपने जीवन का सुख-आराम त्यागकर जगत की सेवा की है! उनकी सारी जिन्दगी परोपकार और सेवा में कटी और बदले में उन्हे मिला—नाम, यश—और अमर कीर्ति का पताका—जो उनके बाद भी उनके महान जीवन की सफल सार्थकता के गान गगन और पवन को आज भी सुना रहा है। जीवन से जीवन की सेवा हो—यही तो जीवन की सार्थकता है!"

और उसने तय किया—"कुसुमलता को किसी नई संस्था की अध्यक्षा बनाकर शहर में भेज दूँ! नागरिक जीवन का उसे अनुभव भी अच्छा है। अतः गाँवों की अपेक्षा नगरों में उसे अधिक सफलता मिल सकेगी।"

लेकिन प्रश्न उठा कि कौन-सी संस्था खोली जाय।

इस प्रश्न के उत्तर में जब उसकी कल्पना मानव-जीवन के भग्न खँडहरों में भटकने लगी तो किसी एक निश्चय

पर पहुँचने में वह अपने को असमर्थ पाने लगा। सामाजिक जीवन के कितने ही टूटे पहलुओं में सुधार की आवश्यकता थी और उस एक-एक अंग के लिये उसके जैसे कितने ही त्यागवीरों की जरूरत थी। कभी कोई विधवा-आश्रम खोलने का विचार करता तो कभी अनाथालय की नींव डालने लगता। कभी किसी कुटीर उद्योग-शाला को बनाने का सोचता तो कभी वेश्यालयों के उद्धार की कामना में विकल हो उठता। ऐसे ही अनेक विषयों पर तर्क करता रहा किन्तु जब किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच सका तो कुसुमलता को अपने पास बुलाया।

कुसुमलता त्रिवेणी के इस आत्मीय संभाषण का अवसर पाकर प्रसन्न हो उठी। उसने आज यह पहलीबार अपने जीवन में एक नई प्रेरणा और स्फूर्ति का अनुभव किया।

त्रिवेणी ने कहा—मैं सोचता हूँ कुसुम, कि कितनी हो ऐसी अनाथ स्त्रियाँ हैं जो मेहनत की रोटी कमाकर जीना चाहती हैं लेकिन समाज के नृशंस बाज और भेड़िये उन्हें तंग कर या जबर्दस्ती अपनी राह में घसीट लाते हैं। मैं ऐसी ही अनाथ और असहाय अबलाओं की रक्षा चाहता हूँ कुसुम! चाहता हूँ—शहर में एक ऐसी उद्योगशाला खोलूँ जिसमें मजबूर और बेवश स्त्रियाँ मेहनत कर अपनी जीविका कमा सकें—कमाकर एक सुनहरे भविष्य की बुनियाद डाल सकें। उसमें ऐसा प्रबन्ध रहेगा कि जो जितना कमायेगी वह उसका

पैसा होगा। सारा पारिश्रमिक अपने हाथों में पाकर सद-स्याएँ खुश होंगी और उत्पादन में जी खोलकर वृद्धि करेंगी। इससे केवल उन्हीं को लाभ न होगा बल्कि संस्था को भी आर्थिक लाभ और गौरव पूर्ण महत्व प्राप्त होगा। कहो, यह कैसी कल्पना है कुसुम !"

कुसुमलता ने उसके प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन किया। बोली—"हाँ, यह विचार तो आपका बड़ा शुभ और कल्याण-कारी है। कौन-सा रोजगार खोलेंगे उसमें ?"

"कोई ऐसा रोजगार खोलना चाहिये जिसके उत्पादन की खपत विशेषकर स्थानीय बाजारों में ही हो जाया करे तथा इतना लाभ भी हो सके जिससे संस्था और सदस्याओं का उचित निर्वाह हो सके। चरखा कातकर हाथ के करघों पर वस्त्र बुनना, हस्तकला और नक्कासी का काम, कपड़े की छपाई, टोकरी-चटाई वनाने का काम तथा धान कूटने का रोजगार खूब चलेगा। योग्यता और कार्यक्षमता के अनुसार जो जैसी योग्य होगी उसे वैसा ही काम मिलेगा; लेकिन इसके लिये सफल संचालन की आवश्यकता है। मैं समझता हूं कि इस क्षेत्र में मुझे सफलता नहीं मिल सकती; फिर मेरे लिये तो इधर ही अनेक क्षेत्र खाली पड़े हैं। इसके लिये एक योग्य और चतुर नारी का सहयोग चाहिये मुझे जो कठोर तपस्विनी बनकर जनकल्याण के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दे। क्या ऐसी नारी मुझे कभी मिलेगी कुसुम ?"—और

आँखों में आशा का रंग भरकर कुसुमलता की उन दयार्द्र आँखों में वह उत्तर ढूँढ़ने लगा।

उसके इस मर्म भरे मौन व्यापार से विचारों में खोई कुसुमलता की पलकें तनिक झिलमिलाईं, फिर अनायास ही उसके मुँह से निकल पड़ा—"आप स्वीकार करें तो मैं ही इसके लिए खड़ी हो जाऊँ, यह भागलपुर है; बनारस नहीं। यहीं पर मुझे पिछले जीवन के गलित अंगों पर परदा डालने का अवसर मिलेगा। कहिये, आप स्वीकार करेंगे इसे!

त्रिवेणी अपनी सफलता पर मुस्कुरा उठा। बोला—"अवश्य! मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी कुसुम! फिर तनिक रुककर बोला—"लेकिन अभी कुछ विलंब है, बरसात समाप्त हो जाने के बाद मैं विद्यालय के लिये ईंटें पथवाऊँगा, उसी समय शहर में तुम अपना भी काम आरंभ कर देना। तब तक अभी मैं कृषि-कार्यों में लगा हूँ। यदि फसल अच्छी हो गई तो इन सीधे-सादे ग्रामीणों का भी भरपूर सहयोग मिलेगा। मेरा सिद्धांत है कि सर्वप्रथम कृषि-कार्य में उन्नति हो,—उसके बाद शिक्षा-संस्कार और धर्म--संस्कृति की। जहाँ पर ये सभी चीजें एक साथ इकट्ठी हो जाती हैं—वहीं सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की त्रिवेणी पर मानव के नित्य जीवन की रचना होती है। मैं सतत् मानव के ऐसे ही मधुर जीवन की कल्पना में लीन रहा करता हूँ कुसुम! देखूँ, मेरी कल्पना कहाँ तक साकार हो पाती है!

कुसुमलता की दृष्टि कानन पर पड़ी। वह मंदिर आ रही थी। सूर्य अस्ताचल की ओर तेजी से भाग रहा था। कुसुमलता उठी और मंदिर में झाड़ू लगाने लगी।

त्रिवेणी ने मिट्ठू को पास बुलाते हुए कहा—देखो मिट्ठू दादा, अब तुम अच्छी तरह काम करने से मानते नहीं, और न तो कभी इस बारे में तुम मुझसे ही कहते न कोने ओ किनना ? तुम्हारी उम्र भी तो लगभग बाबूजी के ही बराबर होगी वे चले गये, लेकिन तुम बुढ़ापे से जर्जर होकर भी हमारा अधिक से अधिक काम कर देते हो" और उसने गंभीर होकर एक हाय भरी—देखो तो, दम्मा से बेदम होकर भी तुम नवयुवकों जैसे अकड़कर काम में जुटे पड़े हो। तुम सोचते हो दादा, कि यदि तुम छोड़ दोगे तो ये सारे काम चौपट हो जायेंगे। तुम हमें तो कुछ करने ही नहीं देना चाहते!—और वह एक प्रश्न भरी दृष्टि से मिट्ठू को निहारने लगा।

मिट्ठू का हृदय गद्गद हो उठा था! इस आत्मीय झिड़कन से वह स्नेह-प्लावित हो उठा। मन में बोला—आह, इस अबोध पुजारी को यह कैसे समझाऊं कि तुम्हारा जीवन मेरे जीवन से कहीं अधिक मूल्यवान है! जिस व्यक्ति के एक-एक क्षण का मोल लाख-लाख है—उसीके सिर पर घरेलू झंझटों का बोझ लादकर उसके अमूल्य जीवन का दुरुपयोग क्यों किया जाय भला ?

मुस्कराते हुए बोला--वेणी बाबू, आप मेरी चिंता न करें, मेरे पास ऐसा काम ही क्या है ? यही न, कि एक गाय और बछड़े को थोड़ा-सा चारा काटकर खिला देता हूँ। जब से कुसुम आई हैं--रसोई का भी काम मेरा छूट ही गया। अब इतना भी नहीं करूँगा तो क्या करूँगा ? आप मेरी चिंता न करें।

"लेकिन मुझे तो दादा, एक और हट्टे-कट्ठे आदमी की जरूरत है। अब मंदिर की देख-रेख का भार केवल तुम्हीं पर रहेगा; क्योंकि मेरा अधिक से अधिक समय अब आस-पास के गाँवों में ही बीतेगा। देखते नहीं, दूसरे गाँव के किसान इन दिनों किस प्रकार बुलाने लगे हैं मुझे ! और मैं भी सोचता हूँ कि यदि मेरे सस्ते वैज्ञानिक ढँग से की गई खेती के द्वारा उन्हें लाभ पहुँच सके तो इन जर्जर किसानों की दशा अवश्य ही सुधर जायगी। क्रमागत सफलता और प्रचार से आर्थिक क्रान्ति की मेरी सघन कामना तब सफल और साकार हो उठेगी, देश और काल की एक महाजटिल समस्या का समाधान हो जायगा। देखते हो, इस गाँव में झगड़े-फसाद तो बिल्कुल बंद ही हो गये। यदि कभी-काल एकाध हो भी गये तो गाँव के पंचों तक ही आकर शान्त हो जाते हैं। अब पसीने की कड़ी कमाई पानी की भाँति मुकदमें में तो नहीं बहती ? ठीक इसी गाँव का अनुसरण पड़ोसी गाँव भी करने लगे हैं। मुझे इन्हीं सम्बन्धों में प्रायः ही इधर-उधर

जाना पड़ रहा है! देखो न, इसी साल में मंदिर के नाम से एक कृषि प्रयोगशाला खोलता हूँ।"

तो बोल उठा मिट्ठू—लेकिन इस बार तो आप कोई स्कूल खोलने जा रहे हैं न ? उसमें भी तो काफी रुपये खर्च होंगे ?

तनिक हँसते हुए त्रिवेणी ने उत्तर दिया – तो उसमें मुझे क्या करना है दादा, विद्यार्थी पढ़ेंगे और अध्यापक पढ़ायेंगे—भवन-निर्माण के लिये उसका फण्ड भी अलग है ही। और देख-रेख का सारा भार तो कमलकान्त जी पर रहेगा। फिर मैं भी तो यहीं रहूँगा!

मैं चाहता हूँ दादा, कि तुम मंदिर में पड़े रहो और इसकी देख-रेख का भार ले लो। मदद के लिये तो कुसुमलता है ही। मंदिर का संध्या-पूजन भी वही कर लेगी; इसमें किसी को आपत्ति भी नहीं है ?

मुझे अपनी सहायता के लिये एक ऐसा युवक चाहिये जो हमेशा मेरी पीठ पर लगा रहे। दिनों-दिन खेतों में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होगी। पशु भी अधिक रहेंगे—उनकी देख-भाल के लिये भी एक आदमी चाहिये ही।

मिट्ठू ने कहा—फकीरा को रख लोगे बाबू? नौजवान है, हट्टा-कट्टा है—साथ ही साथ बहुत सच्चा और ईमानदार भी है। बेकार पड़ा है—बाप मरा था, उसी में उसका खेत गिरवीं पड़ गया है। माँ है नहीं; औरत थी—

लेकिन खूब चटक-मटक वाली निकली सो इसके संग उसका निभा नहीं, दूसरा चुमौना कर लिया उसने। कोई व्याह करने के लिये कहता है उसे तो हँस कर कह देता है—"मैंने तो लंगोट से व्याह कर लिया, अब मुझे औरत की चाह नहीं।"

त्रिवेणी ने कहा—"तो ठीक है, उसीको मंदिर में रह जाने के लिये बोलो।"—और वह मन में सोचने लगा—ये सारे विहारी जी के खेल हैं! हम अज्ञान जीव उनके क्रीड़ा-कन्दुक बनकर केवल उछलते फिरते हैं।

अंधकार घनीभूत हो चला था कि मंदिर के घंटे की आवाज सुनकर वह चौंक उठा। देखा—कुसुमलता और कानन आँचल में दीप छिपाये युगल मूर्ति की आरती करने जा रही थीं। गाँव के कुछ बच्चे प्रसाद की लालच से हर्षित मन शंख, झाँझ और घड़ियाल बजा रहे थे। त्रिवेणी ने वहीं से युगल मूर्ति को प्रणाम किया।

आज वह कहीं न गया था। शनिवार का दिन था। कमलकान्त के आने की बात रही आज। इस बीच में उसने जितनी भी स्कीमें बनाई थीं उन सभी के बारे में उसे आज कमलकान्त से बहस करनी थी। अतः यही सोचकर आज वह मंदिर में ही बैठा रहा।

कुछ देर के पश्चात उसने देखा—कानन उसके समीप से ही गुजरकर घर लौट रही थी। इधर कुछ दिनों से वह उदास

और चिंतित-सी नजर आ रही थी। मालूम होता था जैसे उसके जीवन में कोई अभाव आ गया हो अथवा अनजाने ही उससे कोई ऐसा अपराध हो गया हो कि मौन होकर अपने अपराध का दण्ड पाने की प्रतीक्षा कर रही हो। तीन-चार दिन पहले कुसुमलता ने उसे बताया था कि किसी साधू महाराज ने कानन के भविष्य के बारे में कुछ अटपटी बातें कह दी हैं—तबसे कानन भी उसकी चिंता का एक विषय बन गई थी। किन्तु तब इस चिंता का रूप उतना बड़ा नहीं था जैसा कि आज के देखने से उसे चिंता हुई। कानन के पग की एक-एक गति की ध्वनि अथाह पीड़ा में सनी हुई थी जो उसके हृदयगत मूक व्यथा की अभिव्यक्ति कर रही थी। अपार निराशा में डूबी हुई वे खामोश आँखें इसकी पुष्टि और भी किये दे रही थीं।

वह विकल हो उठा। आज की व्यग्रता उसकी असह्य थी।

कानन मंदिर के फाटक तक पहुँच चुकी थी। त्रिवेणी के मन में आया कि वह कानन के पास जाकर उससे पूछे—"सतत मधु मुस्कान बिखेरती रहनेवाली कानन—तुम्हें आज हो क्या गया है? लगता है जैसे मूक चट्टानें भी तुम्हें देखकर रो देना चाहती हों!" किन्तु जाकर कानन से यह पूछे तो कैसे? उसे साहस न हुआ। उदास होकर आकाश की ओर निहारने लगा। यत्र-तत्र तारे मन्द प्रकाश में टिमटिमा रहे थे। कटे

हुए मुरझाये चाँद को भी कभी-कभी बादल की हल्की टोलियाँ ढँक लेती थीं।

कि कुसुमलता ने 'संध्या' समाप्त कर उसके निकट जाकर कहा—"आज बेचारी कानन बड़ी दुखी है। वह बोलती थी कि भाभी भी उससे घृणा करने लगी हैं। अनजाने में ही उससे एक अपराध हो गया था उसीसे वह नाराज हो गई हैं। वह बोलती थी कि जब वह अपने रोते हुए भतीजे को गोद में लेकर खेला रही थी—भाभी ने आकर उससे बच्चा छीन लिया। पोखर के घाट पर भी उसने कई स्त्रियों के मुँह से सुना—वे कह रही थीं कि कानन के हाथ से कोई सिन्दूर मत पहना करो और न तो अपने बच्चों पर उसकी नजर ही पड़ने दो; क्योंकि इन दिनों उसपर शनि का प्रकोप है—किसको अपना साँय-बेटा सस्ता है! इन्हीं अपमानों से आज बेचारी भर दिन आँसू ही बहाती रही है। अभी भी जब यहाँ आई थी— मेरे सामने रोने लगी। मैंने उसे बहुत धैर्य बंधाया लेकिन जिसका हरा-भरा संसार इस भाँति जल रहा हो—भला उसे कैसे धैर्य हो सकता है!"

और कुसुमलता आँचल के एक छोर से गीली आँखें पोंछने लगी।

त्रिवेणी कुछ बोला नहीं; केवल एक हुँकार भर कर रह गया। उसके हुँकार से मालूम हुआ जैसे वह प्रचण्ड गाण्डीव की टंकार हो।

फिर कमलकान्त की प्रतीक्षा में बहुत देर तक बैठा रहा लेकिन वह नहीं आया। स्कूल में किसी विशेष कार्य में फँस जाने के कारण किसी-किसी शनिवार को वह नहीं भी आता। अन्त में त्रिवेणी एक जलपात्र में जल लेकर सड़क की ओर टहलने निकल गया। उसके पैर यंत्रवत आगे बढ़े जा रहे थे किन्तु उसका मस्तिष्क कानन के सुकुमार अतीत का स्मरण कर, उसके करुण वर्त्तमान और अंधकार भविष्य की चिंता में उलझ-भटक रहा था।

इसके दो-तीन दिन बाद—

जब से मंदिर में कुसुमलता आ गई थी तब से त्रिवेणी प्रायः मंदिर के पिछुवाड़ेवाले चौतरे पर सोया करता था। इन दिनों वह कई प्रकार की चिंताओं में ग्रसित रहता। रात में उसे अच्छी तरह नींद भी नहीं आती थी। उस दिन मेघीली रात थी। चाँदनी थी लेकिन सिसकती हुई सी। रात के करीब दो का समय होगा। फिर भी लगता था जैसे भोर हो गया हो। पेड़ पर सोये पक्षी यदा-कदा चुनमुना उठते थे। मंदिर का सारा वातावरण शान्त था। मढ़ैया में सोये हुए मिट्ठू के खाँसने की आवाज कभी-कभी सुनाई पड़ जाती थी। त्रिवेणी अर्द्ध-सुप्त अवस्था में पड़ा-पड़ा सोच रहा था—"यह मिट्ठू भी कैसा आदमी है! मुझको और इस मंदिर को समझता है जैसे दोनों उसी के हाथ के लगाये हुए पौधे हों। उसे जो भली भाँति नहीं जानता—उसकी नजर में वह अत्यन्त साधा-

रण, अपढ़ और गँवार है। लेकिन मुझसे कोई पूछे तो मैं बताऊँ कि मूर्ख और गँवार होते हुए भी उसके जैसा ज्ञानी और विवेकशील प्राणी समाज में विरले ही हैं।"

तभी मंदिर के कपाट खुलने की चरमराहट सुनाई पड़ी। वह थोड़ा सजग हो गया। आँखें खोले लेटा ही लेटा उधर की तरफ कान देकर कुछ सुनने का प्रयास करने लगा। पट खुलते ही उसे किसी स्त्री के सिसकने की आवाज सुनाई पड़ी। वह उठ बैठा और ध्यान से उस आवाज को सुनने लगा। उसने सोचा कि शायद कुसुमलता रो रही होगी किन्तु दूसरे ही क्षण उसे ज्ञात हुआ कि वह आवाज कुसुमलता की नहीं बल्कि कानन की है।

फिर सोचने लगा—"लेकिन, कानन इतनी बड़ी रात को मंदिर क्यों आयगी?" उसने सुना—वह स्त्री जोरों से फफक-फफक कर युगलमूर्ति के चरणों से कह रही थी—"मुझे मेरे किस पाप का इतना दण्ड दे रहे हो भगवान? मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे इस दुनिया से उठा लो। इतनी उपेक्षा और इतना अपमान—आह! मुझसे अब सहा नहीं जायगा भगवान! अब कहाँ जाऊँ? नैहर आई तो यहाँ भी तुमने काँटे ही साथ भेजे। ना भगवन, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ—अब मेरी इतनी जाँचना न करो। मुझे मेरा अपराध बताओ नहीं तो आज मैं तुम्हारे ही चरणों पर सिर पटक-पटक कर जान दे दूँगी। इस तरह तिरस्कृत और लांछित होकर जीने से लाभ ही क्या?"

और आवेश में आकर वह जोरों से सिर पटकने लगी।

त्रिवेणी विह्वल हो उठा। वह लपक कर मंदिर में घुस गया और कानन को उठा लिया। कानन और भी फूट-फूट कर रोने लगी।

त्रिवेणी का गला भर आया था। रुद्ध कंठ से वह कहने लगा—"कानन, पागल तो नहीं हो गई तुम? कहीं रोने से भी संकट दूर होता है! तुम्हें कमी किस चीज की है? लोग तो तुम्हारे सौभाग्य से जलते हैं—जलने दो उन्हें! तुमसे बढ़कर अधिक सुखी और कौन होगा? अजीत जैसे पति पाकर भी तुम आँसू बहाती हो? छिः...," और उसे चुप कराते हुए मंदिर के बरामदे पर ले गया।

कानन अपने दुःख में इतनी उद्विग्न हो उठी थी कि उसे स्थिति का तनिक भी ज्ञान न रहा था। कुछ चैतन्य होकर सिहर उठी वह। उसने देखा उसके दोनों कंधों पर पुजारीजी के मंगलमय हाथ थे।

तब तक कुसुमलता भी जागकर उठ बैठी थी। उन दोनों की आवाज सुनकर वह भी घबड़ाई हुई-सी आगे बढ़ी।

त्रिवेणी ने कहा—"देखो तो कुसुम, बच्चों की भाँति यह रो रही है! व्यर्थ में भगवान के सामने फर्श पर माथा पटक रही थी। ले जाओ इसे—चुप कराओ!" और कानन को कुसुमलता के हाथ सौंपकर वह मढ़ैया की तरफ चला गया।

मिट्ठू भी जागकर उठ बैठा था। त्रिवेणी वहीं मिट्ठू के

पास बैठकर कानन के विषय में बातें करने लगा।

मिट्ठू ने कहा—बाबू, इस रात में कानन बिटिया का यहाँ ठहरना उचित नहीं, जाता हूँ मैं उसे घर पहुँचा आता हूँ।

त्रिवेणी को इस घटना का तनिक भी ध्यान न था। उसे क्या मालूम कि यह घटना भी कानन के जीवन में दुखों का ही तूफान लायेगी ?

उसने मिट्ठू से कहा—साथ में कुसुम को भी ले लेना दादा और कानन की भाभी को अच्छी तरह समझा देना।

मानव के संकीर्ण सामाजिक जीवन में कभी-कभी ऐसी भी घटना घट जाती है कि निरपराध भी अपराध का भागी बनकर फाँसी के तख्ते पर झूल जाता है। उसका अपराध होता है तो केवल इतना ही कि आहत का चीत्कार सुनकर वह सहायता के लिये दौड़ता है; किन्तु कातिल हत्या कर पहले ही भाग चुकता है और तब समाज और उसके कानून उसी को हत्यारा करार कर उसे फाँसी पर चढ़ा देते हैं। मस्तक पर टँकी दो आँखों के न्याय में भले ही वह हत्यारा हो; लेकिन मानव हृदय के अन्दर जो न्यायशील नेत्र छिपे रहते हैं—उनसे उसका न्याय कोई नहीं पूछता। समाज के चतुर व्यक्तियों को इतनी फुर्सत ही कहाँ कि वे हृदय की आँखों से किसी के अपराध का निराकरण करते फिरें।

ठीक ऐसी ही घटना उस दिन की भी थी। बच्चा कानन से अधिक पट गया था। जब कानन नहाने के लिये जाने

लगी तो उसके मन में आया कि बच्चे को भी नहवा दूं। जुकाम की वजह से कई दिनों से बच्चे को नहलाया नहीं गया था। उस दिन धूप खुलकर उगी थी। अतः बिना देवकी को पूछे ही उसने बच्चे को भी नहवा दिया। दुर्भाग्यवश तीसरे पहर ही बच्चे का शरीर तप आया। नहलाते वक्त देवकी ने भी देखा था लेकिन तब उसने कोई विरोध नहीं किया था।

और इस वक्त जब बच्चे की तबीयत ख़राब हो आई तो उसके मन में अनेक भाँति के भय और शंकाओं ने घर कर लिया। केवल एक भय के कारण ही उसका वह स्वच्छ हृदय आज विषाक्त हो उठा था। संदेह नहीं कि देवकी कानन को बहुत प्यार करती थी लेकिन जिस दिन से उसने लाख मना करने पर भी सबेरे उसे पति के पलंग पर सोई देख लिया था तभी से वह उससे घृणा करने लगी थी। उस दिन वह मन ही मन बुदबुदाई थी—"यह कामातुर लड़की इतनी बड़ी हो जाने पर भी परहेज न कर सकी! ना, इसकी तकदीर ही फूट गई है; तभी न इसकी बुद्धि मारी गई! ससुरार को तो तबाह किया, अब मेरे घर में आग फूंकने आई है!

और आज बच्चे की बीमारी से उसका मन और भी उबल उठा था। उसने क्रोध में आकर आज कानन को बहुत खरी-खोटी भी सुना दी थी।

अपनी भाभी के ही द्वारा किये गये अपमान को कानन

सह न सकी। दिन भर तो आँसू बहाती रही और जब अत्यन्त उद्विग्न हो उठी तो रात्रि के उस सूने प्रहर में भी मंदिर तक चली गई।

राह में आते वक्त मिट्ठू ने उसे समझाया "बेटी, भगवान जो भी करते हैं, ठीक ही करते हैं। हम उनके जिस काम को बुरा कहते हैं तनिक सोचो तो हमारी भलाई ही छिपी रहती है उसमें। किन्तु हमलोग इतने अबोध हैं कि उनके कार्य और संकेतों को हम सही-सही समझ नहीं पाते। एक बच्चा चिराग पकड़ने के लिये मचलता है किन्तु किसी समझदार आदमी के द्वारा पकड़ लिया जानेपर चीखने-चिल्लाने लगता है। लेकिन वही जब एक दिन बड़ा हो जाता है और आग-पानी के महत्व को समझने लगता है तब वह स्वीकार करता है कि एक दिन आग छूने से वंचित रखकर किसी ने उसका कितना बड़ा उपकार किया था।

त्रिवेणी, कुसुम और मिट्ठू के ऐसे ही ढाढ़सों और उपदेशों से कानन का मन तनिक हलका हुआ।

देवकी कानन के इस कांड से चिढ़ी तो अवश्य लेकिन उसने मौन रहना ही उचित समझा।

किन्तु छिद्रान्वेषी लोगों को कौन रोके? रात में मन्दिर से लौटते समय किसी-किसी ने देख लिया था। बस क्या था, सबेर होते ही होते दुष्ट स्त्री पुरुष-कुटिल और अनर्गल प्रलापों की कानाफूसी करने लगे।

(२२)

बरसात बीती। शरद भी आया और बीत गया। अब जाड़े का आगमन था।

अजीत का पत्र पाकर मोती कानन को लिवा ले जाने के लिये आया था अतः कानन उसीके संग ससुराल चली गई।

इन दिनों त्रिवेणी विद्यालय-निर्माण के कार्य में बहुत व्यस्त था। ईंटों के तीन-चार भट्ठे पक कर तैयार थे। भवन-निर्माण की पूरी तैयारी हो चुकी थी लेकिन फिर भी अभी तक काम में हाथ नहीं लगा था। धन-कटनी के दिन आ गये थे। किसान और मजदूर अपने-अपने खेतों की फसल समेटने में व्यस्त थे।

अतः यहाँ का काम अभी स्थगित ही छोड़कर इन दिनों वह भागलपुर में एक छोटा-सा आश्रम-भवन के निर्माण में व्यस्त था। तीन-चार महीने में वह भी बनकर तैयार हो गया। अब आश्रम की आवश्यक सामग्रियाँ जुटाई जा रही थीं। बीच-बीच में कुसुमलता भी शहर जाकर उस आश्रम-भवन कोदेख आती थी। ज्यों-ज्यों आश्रम का काम पूरा होता जाता था -उसके हृदय का वह स्वप्न भी साकार होता दिखाई पड़ता

था। आजकल वह विशेष प्रफुल्ल थी।

इस आश्रम के भवन निर्माण में सारा खर्च कुसुमलता का था, किन्तु शहर के कुछ सदय धनवानों से बहुत-सी सामग्रियाँ मुफ्त ही मिली थीं और भविष्य में उनसे आर्थिक सहयोग की भी आशा थी।

आश्रम का नाम रखा गया था—"महिला-उद्योग-आश्रम"। यह आश्रम शहर के पूरब प्रशस्त गंगा की कछार पर अवस्थित था। आस-पास चारों तरफ पर्याप्त खुला मैदान था।

त्रिवेणी इसी आश्रम में कुसुमलता का जीवन टाँक कर नारी जीवन में एक सफल-क्रान्ति की कामना किया करता था।

इस जगह की खूबी ही कुछ ऐसी थी कि भवन के निर्माण होते-होते शहर के बड़े-बड़े लोग इसे देखने के लिये पहुँचने लगे। विशेष रूप से हवाखोरी में गये हुए लोगों के आकर्षण का तो यह केन्द्र-बिन्दु ही था।

आश्रम की पुताई हुई, भवन के मध्य में बड़े-बड़े सुडौल अक्षरों में लिखा गया—"महिला-उद्योग-आश्रम।" वसंत पंचमी के दिन आश्रम का शुभ उद्घाटन होनेवाला था।

त्रिवेणी सोच रहा था—"ऐसे सुन्दर आश्रम के संचालन के लिये किसी पढ़ी-लिखी योग्य महिला की आवश्यकता है। संभवतः इसमें ऊँचे परिवार की महिलायें भी हाथ बँटाएँ। यदि कला और उद्योग उच्च कोटि के हुए तो अवश्य ही बड़े घरों

की महिलायें भी इसकी सदस्या बनने के लिये आतुर हो उठेंगी। तब इतने बड़े आश्रम की देख-रेख और शिक्षा-संभाल अकेली कुसुमलता से नहीं हो पायेगी। वस्तुतः उसमें एक योग्य सदस्या बनने के गुण हैं—अध्यापिका और अध्यक्षा बनने के नहीं।

अतः त्रिवेणी ने दैनिक समाचार पत्रों में आश्रम के लिये एक पढ़ी-लिखी सुयोग्य अध्यापिका के लिए विज्ञापन कराया।

उन दिनों कामिनी जीवन के सांसारिक सुखों से पूर्ण निराश हो चुकी थी। पहले उसे यह विश्वास था कि क्षणिक क्रोध शान्त हो जाने पर उसका पति उसे अपने पास बुला लेगा; किन्तु ऐसा हुआ नहीं। राँची जाकर वीरेन्द्र कामिनी को बिल्कुल ही भूल बैठा और भूला विस्मरण के कारण नहीं: बल्कि कामिनी और उसके माता-पिता से एक प्रतिशोध लेने के लिये।

अन्त में निराश होकर कामिनी स्वयं ही राँची चली गई किन्तु वहाँ भी उसे उपेक्षा और अपमान ही मिला। उसने देखा कि उसका पति वीरेन्द्र बगल के क्वार्टर में रहने वाली, एक दरोगा की लड़की से फँस गया था। लड़की जवान थी, चटकदार थी, अतः वीरेन्द्र से उसकी साठ-गाँठ बातों: बातों में लग गई थी।

कामिनी ने भी उस लड़की को देखा तो घृणा से मन भर

उठा उसका।

वीरेन्द्र ने कामिनी पर तीखे तीर छोड़े—"यह लड़की तुम्हें पसंद है कामिनी ? इसी मार्च में मैं इससे शादी करने जा रहा हूँ ! गौर से देख लो इसे। बड़ा ही अच्छा हुआ कामिनी, कि तुम स्वयं आ गईं; अब तो तुम अपना और बाबूजी का भी निमंत्रण साथ ही लेती जाओगी !"

कामिनी वीरेन्द्र के ऐसे कटु और निर्मम वाक्यों से मर्माहत हो उठी। उसे अनुभव हुआ जैसे उसके कान शून्य हो गये हों अथवा पैर के नीचे की मिट्टी खिसक गई हो। जब उससे अधिक न सुना गया तो आँसुओं के कड़ुवे घूँट पीती हुई रसोई घर की ओर चली गई। वहाँ पर एक बूढ़ी नौकरानी चौका-बर्त्तन कर रही थी।

जब रात का भोजन तैयार हो गया तो वीरेन्द्र ने रसोइया के मार्फत भोजन और दही-मिठाई की थाल परोसवा कर कामिनी के लिये उसीके कमरे में भेजवा दिया। कामिनी ने भोजन देखा तो लगा उसे कि उसका पति उसके कलेजे में सोने की साँग भोंक रहा हो। वह रोने लगी। नौकरानी ने उसे बहुत धैर्य बंधाया, उसके आँसू पोंछे; किन्तु मिस्टर वीरेन्द्र पर उसके आँसुओं का कोई असर न पड़ा।

हाथ पकड़कर, सौगन्ध धराकर उस बूढ़ी ने ही दो-चार कौर खिलाया उसे। उसीके द्वारा अपने पति और उस दरोगा की छोकड़ी के बारे में वह बहुत कुछ जान पाई।

अतः भोर होते ही वह पहली ही गाड़ी में पटना लौट गई।

उन्हीं क्षोभ और निराशा के तिमिरमय क्षणों में जब उसने 'सर्च-लाइट' में एक आश्रम के लिये किसी अध्यापिका का विज्ञापन पढ़ा तो तत्क्षण कलम उठाई और अपनी उम्मीदवारी के लिये एक आवेदनपत्र लिखकर भेज दिया।

उसका आवेदनपत्र स्वीकृत हो गया और वह भागलपुर 'महिला-उद्योग-आश्रम' की अध्यापिका और अध्यक्षा दोनों ही बना दी गई। कुसुमलता कामिनी के सम्पर्क में रहकर बड़ी खुश हुई और अपने जीवन को धन्य समझने लगी।

वसंतोत्सव के शुभ अवसर पर आश्रम का उद्घाटन हुआ। शहर के गण्यमान्य प्रतिष्ठित और सरकारी कर्मचारी भी उस उद्घाटन में उपस्थित हुए। कामिनी जैसी विदुषी और उच्च कुल की कन्या को आश्रम की अध्यक्षा के रूप में देखकर जनता की उत्सुक दृष्टि उसी पर केन्द्रित हो गई! आश्रम दिन-दिन उन्नति के पथ पर अग्रसर हो चला।

चन्द ही दिनों में कामिनी के स्वभाव, उसकी कार्यपटुता और निपुणता से त्रिवेणी भली भाँति परिचित हो गया। जब कामिनी का वह आवेदनपत्र आया था—उसने सोचा था—पटना शहर की रहनेवाली,एक मैजिस्ट्रेट की बेटी अवश्य ही किसी उच्च व्यक्तित्व अथवा आश्रम की सदस्याओं से बिल्कुल भिन्न होगी। हो सकता है उसे यह आश्रम भाये न अथवा

यह त्याग और विराग का जीवन उसे भागलपुर जैसे शहर में अरुचिकर लगे।

किन्तु जैसे ही उससे कामिनी का साक्षात्कार हुआ—उसके सारे तर्क निर्मूल हो गये। करीब बाईस-तेईस बर्ष की वह युवती,—जिसके जीवन में यौवन मदिरा की कल-कल, छल-छल, रूप में मोहक शृंगार और आकर्षण, नेत्रों में अधूरे सपनों की रेखाएँ और पलकों में प्रणय का निमंत्रण होना चाहिये था; उसीके शरीर पर मामूली-से वस्त्र, इने-गिने साधारण गहने, माँग में सिन्दूर की एक मुरझाई-सी रेखा, नेत्रों में निस्तब्ध रात्रि की खामोशी और चेहरे पर प्रौढ़ भावों की गंभीरता अंकित थी। किसीकी समझ में ही यह नहीं आ रहा था कि इसके जीवन में अनुराग है या विराग।

त्रिवेणी आश्रम के लिये कानन जैसी योग्य अध्यक्षा को पाकर आश्रम की ओर से निश्चिंत हो गया। उसने देखा कि कामिनी आश्रम के विकास के लिये अन्तःकरण से सचेष्ट है।

कुसुमलता से भी कामिनो की खूब पट गई थी। वह उसे अपनी बड़ी बहन के समान समझती थी तथा हृदय से उसकी इज्जत करती थी। दोनों के व्यवहार में तनिक भी अन्तर न था। ऐसा ज्ञात होता था जैसे एक ही फूल की दोनों दो पंखड़ियाँ हों।

अतः त्रिवेणी कुसुमलता की ओर से भी अब चिंतामुक्त हो गया था। उसकी राह साफ थी। इन दिनों वह हृदय

की सबलता और चित्त की एकाग्रता का उपार्जन कर रहा था।

इस बार धान की फसल अच्छी लगी थी। किसान अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार पाकर खुश थे। धान का खलिहान बहुत पहले ही उठ चुका था। चैत का आरंभ हो चला था। धनखेती में थोड़ी बहुत रब्बी थी। कैनकी धान के खेतों में जिसने बढ़िया कमाई कर चना, गेहूं या जौ बोया था, और कुएँ के जल से सिंचाई कर दी थी—उनके तो खेत लहराते हुए नजर आ रहे थे; बाकी अन्य अकर्मण्य किसान जो केवल भाग्य और भगवान पर ही निर्भर रह जाना जानते थे—उनके खेत सिसकते हुए-से लग रहे थे। उनसे बीज भर भी ऊपर हो जाना बहुत था।

त्रिवेणी को यह बहुत बुरा लगा। उसने कई किसानों से इस सम्बन्ध में बातें भी कीं लेकिन उन्होंने वही रूढ़िवादी उत्तर दिया—"अरे, ये खेत ससुर ही वैसे हैं! पहले तो ये सब बञ्जर थे बञ्जर! हमारे बाप-दादों ने तो इन पर कभी हल भी नहीं चढ़ाया था—मवेशियाँ चरा करते थे इनमें। आज जब जमीन का इतना अभाव हो गया तो हम ऊसर और टीलों को भी जोतने लगे हैं। किसी तरह खाने भर को धान हो जाय इनमें—बस, इतना ही पर्याप्त है!"

त्रिवेणी ने वैसे मूर्ख किसानों के संग माथापच्ची करना व्यर्थ समझा। उसने सोचा—"ये लोग ऐसे नहीं मानेंगे। जब तक कोई दूसरा व्यक्ति इन्हीं खेतों में अच्छी फसल उपजा

कर दिखा न दे तबतक इनकी आँखें खुलेंगी नहीं। और उसमें भी पहले-पहल उस आगे बढ़नेवाले व्यक्ति के ऊपर अविश्वास और आलोचना तो ये करेंगे ही। पहले धान के बारे में भी ये लोग ऐसी ही उल्टी-सीधी बातें कहा करते थे; किन्तु आज जब उपजा कर दिखला दिया गया तो कहते हैं—हाँ, जमीन है लेकिन एक फसली ही। धान और रब्बी दोनों नहीं हो सकते इनमें, इनकी मिट्टी ही ठीक नहीं।"

अतः त्रिवेणी ने निश्चय किया कि "भगवान ने चाहा तो अगले वर्ष ही इन खेतोंमें रब्बी और धान दोनों ही उपजा कर दिखा दूँगा।"

गाँव में रब्बी की फसल मामूली रहने के कारण मजदूर और किसान अपने-अपने खलिहानों से जल्दी ही फुर्सत पा गये।

ऐसे ही दिनों में त्रिवेणी ने विद्यालय-भवन बनाने में हाथ लगा दिया। ईंटें तो पहले से ही पककर तैयार थीं अतः काम जोरों से आरम्भ होगया।

उसने सोचा था कि मजदूरी के सारे खर्च उसे ही देने पड़ेंगे किन्तु कमलकान्त के किंचित प्रयास से ही आस-पास के ग्रामीण किसान 'मजदूरों' की सहायता करने लगे। केवल कुछ गरीब मजदूर और कारीगरों को ही मजदूरी देनी पड़ती थी। इस कार्य में कमलकान्त का भरपूर सहयोग था। उसी ने आस-पास के गाँवों में घूम-घूम कर चँदे भी जुटाये थे।

अब भवन निर्माण का कोष संतोषप्रद हो चुका था। अतः काम द्रुत गति से आगे बढ़ा जा रहा था।

ठीक जेठ समाप्त होने-होते ही भवन बन कर तैयार हो गया। अगले वर्ष की जनवरी से पढ़ाई शुरू हो जाने वाली थी।

उन दिनों अजीत पढ़ाई समाप्त कर घर में ही बैठा था। एम० ए० में कोई बढ़िया 'क्लास' न ला पाया था। उसे इस बात का अत्यन्त दुःख था और इसीलिये उसे पास होने की कोई खुशी नहीं थी बल्कि अपने को फेल ही समझता था।

त्रिवेणी ने कमलकान्त से कहा—यदि अजीत बाबू हमारे विद्यालय के प्रधानाध्यापक हो जायँ तो बड़ा उत्तम हो। मैं समझता हूँ, यदि आप उनसे आग्रह करें तो वह अवश्य मान जायेंगे। फिर आज की जैसी हवा वही है—कि कोई भी पढ़ा-लिखा युवक घर में बैठा रहना पसंद नहीं करता। वह भी कहीं न कहीं कुछ काम-धन्धा करेंगे ही।

कमलकान्त को भी विश्वास था कि कहने पर वह अवश्य मान जायेंगे; क्योंकि यहाँ भी तो तनख्वाह मिलेगी उन्हें। अतः त्रिवेणी से बोला—"हाँ, हाँ; मैं जरूर कहूँगा उनसे! उन्हें मानना ही पड़ेगा।"

× × × ×

मानव समाज को अपने बीते हुए दिनों का इतिहास

भी रही। यह वीरों के लिए देशभक्ति का महायज्ञ था। इस महायज्ञ में देश के कितने ही नौनिहालों ने हँसते-हँसते प्राणों की आहुति देकर अंतिम साँस में भी विदेशी सरकार से देश की आजादी की माँग की थी। यह वह क्रान्ति थी जिसमें देश के समस्त नर-नारी, बाल-वृद्ध और युवक-युवतियों ने समान रूप से भाग लिया था। जैसे किसी पहाड़ी नदी में बरसाती बाढ़ आ गई हो—ठीक उसी प्रकार देश के नाम पर मर मिटनेवालों की एक बाढ़-सी आ गई थी।

आठ अगस्त सन् उन्नीस सौ बयालिस की रात में महात्मा गान्धी अपने अन्य सहकर्मियों के साथ बम्बई में गिरफ्तार हो गये।

गिरफ्तार होते ही उन्होंने देश के शेर युवक-दिलों को संबोधित कर उन्हें ललकारा—"करो या मरो।" अर्थात् देश को विदेशी शासन-सत्ता से उन्मुक्त करो अथवा इसी प्रयास में बलिदान हो जाओ। इतने वीर लाड़लों के रहते हुए भी भारत माँ की यह दुर्दशा ?

बस, क्या था ? प्रातः नौ अगस्त से लेकर ग्यारह अगस्त तक देश के कोने-कोने में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी। गरम खून वाले युवक ब्रिटिश सरकार के कुटिल राजतंत्र का तख्ता एक ही दम में उलट फेंकने के लिये गरज उठे। गाँव-गलियों, नगर-चौराहों—सर्वत्र राष्ट्रीय गीत गूँजने लगे—"जो सर में कफन को बाँध चुका वो पाँव हटाना क्या जाने ?"

अथवा "हम अपनी भारत माता के सब फंद छुड़ाने चले हैं " इत्यादि-इत्यादि ।

अतः विदेशियों के द्वारा उस हड़पे हुए अधिकार को छीन लेने के लिये एक भीषण संग्राम शुरू हुआ और यह संग्राम था शासक और शासितों का, राज्यतंत्र और गणतंत्र का। युग-युग का दलित शासित वर्ग शासन सत्ताधारियों पर भूखे शेर की भाँति टूट पड़ा। रेल-तार और पुल तोड़े गये। ट्रेनों में सरकारी खजाना लूटा गया, पोस्ट-आफिस जलाये गये, आबकारी विभागों को ध्वंस कर दिया गया, पुलिस-स्टेशनों, अदालतों और आफिसों पर छापा मारकर सारे कागज-पत्तर जला देने के प्रयत्न किये गये। हाई-कोर्टों और दिल्ली के लाल किले पर तिरंगा झंडा फहराने के लिये आजादी के कितने ही दीवानों ने मौत को चूम लिया। कितनी माताओं के सुकुमार बच्चों ने उस स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर हँसते-हँसते अपने प्राणों की आहुति दे दी—यह देश का इतिहास ही बतायेगा ।

वह एक राष्ट्रीय आँधी थी। यह उसी आँधी की एक दुर्घटना है । उन दिनों अजीत घर में ही बैठा था। वह युवक था और उसके शरीर में उष्ण रक्त की लालिमा थी। अतः आन्दोलन में उसने भी दिल खोलकर भाग लिया। अपने इलाके भर के क्रान्तिकारी दल का नेता वही चुना गया। गले में फूलों का हार पहनकर वह बिल्कुल ही भूल गया कि

वह अपने घर का अकेला है और किसी झंझट में फँस जाने से सारा घर मिट्टी में मिल जायगा। वस्तुतः इतनी बातें सोचने-समझने की फुर्सत उस वक्त देश के किसी भी नौजवान को नहीं थी। वह अपने दल का अगुआ था और उसके पीछे-पीछे थी—आजादी के उन्मत्त दीवानों की एक लम्बी टोली।

उस दिन उन लोगों का प्रोग्राम था—स्थानीय थाना को लूटना और उस पर स्वदेशी शासन कायम करना। कई स्कूल और कालेज के प्रौढ़ छात्रों के साथ-साथ किसान और मजदूरों की भी एक लम्बी भीड़ थी। आगे-आगे तिरंगा झंडा लहराता हुआ जा रहा था और पीछे से नारों की बुलन्दी हो रही थी। रास्ते में कितने ही लोग और भी साथ हो गये। थाना तक पहुँचते-पहुँचते एक अच्छी खासी भीड़ हो गई थी।

नारों की गूँज सुनकर थानों के सिपाही सजग हो गये। थाने का दरोगा हाथ में पिस्तौल लिये बरामदे पर आ डटा तो देखा उसने—भीड़ थाने के प्रांगण में आ पहुँची थी।

किसी उपद्रव की संभावना से सचेत होकर उसने अपने सिपाहियों को बन्दूक संभालने का आदेश दिया। समस्त सिपाही अपने-अपने शस्त्रों को संभाले बरामदे के नीचे उतर कर एक पंक्ति में खड़े हो गये।

किन्तु आजादी की अखंड दीप-शिखा पर जल मरने वाले परवानों को भला मृत्यु का भय क्या डरा सकता था।